

जीवन पथ

(सज्जनोचित जीवन व्यतीत करने के लिए कुछ सुलभ साधन)

लेखक

डॉ. गुलाबराय

एम. ए. डी. लिट्.

गया प्रसाद एण्ड संस, आगरा

विषय सूची

1.	हारिए न हिम्मत विसारिए न राम	5-8
2.	समाज और व्यक्ति का लेन-देन	9-14
3.	हमारा कर्तव्य-पथ	10-12
4.	आत्मोन्नति	13-15
5.	सफाई और व्यायाम	16-20
6.	मानसिक उन्नति	19-22
7.	मित्रता	23-27
8.	समाज के प्रति हमारा कर्तव्य	28-31
9.	पुरुषार्थ और संलग्नता	32-36
10.	वीरता	37-41
11.	समय का सदुपयोग	42-44
12.	सद्व्यसन	45-48
13.	योग्यतानुकूल व्यवसाय चुनना	49-54
14.	संघर्ष	55-59
15.	देश-प्रेम और देश-सेवा	60-65

पुस्तक के सम्बन्ध में

संसार की भांति वर्तमान शिक्षा पद्धति भी गुण-दोष मय है। हमारी वर्तमान शिक्षा में जहां बहुत से गुण हैं वहां कुछ दोष भी हैं। उसमें सबसे बड़ी कमी यह है कि विद्यार्थियों को नीति और जीवन सम्बन्धी समस्याओं से अछूता-सा रखा जाता है। जहां हमारी शिक्षा हमारे विद्यार्थियों के मस्तिष्क को (उन्नत और विकसित तो मैं न कहूंगा) अपक्व ज्ञान का भण्डार बनाती है वहां उनके सदाचार-सम्बन्धी संस्कारों तथा सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के परिपोषण और परिमार्जन की ओर से वह उदासीन सी रहती है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी कमी की आंशिक पूर्ति के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर लिखी गई है। हमारे विद्यार्थी ऐसे संस्कार बना लें कि जो उनके भावी जीवन-संग्राम में सहायक हों। मनुष्य को भौतिक सफलता प्राप्त करना इतना कठिन नहीं है जितना कि नैतिक उच्चता और उदारता को अपने जीवन को अंग बनाना।

इस पुस्तक में सांसारिक सफलता की उपेक्षा तो नहीं की गई है; किन्तु उच्च आशयता और सज्जोचित व्यवहार की और अधिक ध्यान दिया गया है। भाषा में साहित्यिकता लाने और भारतीय संस्कृति की अनुकूलता प्राप्त करने के साथ इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि भाषा दुरूह न हो जाये जिससे कि हमारे विद्यार्थी इसके लाभ सं वंचित रहें।

मुझे आशा है कि हमारे नवयुवक इस पुस्तक के आलोक में अपने संस्कार और अभ्यास निर्माण करने का उद्योग करेंगे और मुझे इस बात की प्रसन्नता और गौरव देंगे कि मेरी यह पुस्तक हमारे भावी राष्ट्र-निर्माताओं के जीवन-निर्माण में किसी स्वल्प मात्रा में भी सहायक हुई

इस पुस्तक की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं--

1. इस पुस्तक में साम्प्रदायिकता से दूर रहते हुए आचार और लोक व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों की और ध्यान आकर्षित किया गया है।
2. इस पुस्तक में समन्वयात्मक और संतुलित जीवन की और विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया गया है और भारतीय संस्कृति के संरक्षणीय तत्वों पर

बल दिया गया है।

3. इसमें संस्कृति को नाच-गाने और कला कौशल में ही सीमित नहीं रखा गया वरन् भारतीय आदर्शों के अनुकूल सदाचार की ओर पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।
4. इसकी भाषा सरल सुविधाजनक होने के साथ साहित्यिक भी है, जिसमें भाषा की सरलता प्रस्तुत की हुई है। प्रमाण स्वरूप जहां-कहीं संस्कृत के उदाहरण आवश्यक हो गये हैं।
5. इसमें पास के साथ सारभूत प्रश्न भी दे दिये गए हैं जिससे कि उन प्रश्नों के आलोक में विद्यार्थी लोग पाठ को अच्छी तरह समझ सकें।
6. इस पुस्तक का दृष्टिकोण सन्तुलित और समान्यात्मक है।
7. संस्कृतिक जीवन में काव्य और कलाओं का भी स्थान है। जीवन की पूर्णता के लिए एक अध्ययन वाद्य और कलाओं पर भी कहा गया है।

यद्यपि यह उपदेश ऐसे व्यक्ति से आने चाहिये थे जिसका जीवन सफल ओर आदर्शमय हो तथापि हमारे पाठक इसके वक्तव्य को मूल्य उसकी नैतिकता और उपयोगिता के आधार पर आंक कर इसको हंस-बुद्धि से अपनायेंगे।

परो अपावन ठौर में कंचन तजै न कोय।

गोमती निवास
दिल्ली दरवाजा, आगरा



गुलाबराय

हारिए न हिम्मत विसारिए न राम

अब जागो जीवन के प्रभात्
रजनी की लाज समेटो तो,
कलरव से उठकर भेंटो तों ।
अरुणांचल में चल रही वात,
अब जागो जीवन के प्रभात्

--प्रसाद

यह संसार गुण-दोषमय है। इसमें पाप-पुण्य, दिन-रात हास और रुदन सब कुछ है। इस लहलहाते सागर में रत्न, जवाहर और मोती भी हैं और मनुष्य को साबित निगल जाने वाले मगर और घड़ियाल भी। इसमें प्रेमालाप, मधुर मिलन, हास-परिहास के साथ कलह और संघर्ष भी है। ऐसे संसार में हमारा क्या कर्तव्य है? क्या इससे मुंह छिपाकर भाग जाने और किसी सौरभमय कोने में, अवनी के कोलाहल से दूर, चादर तानकर सो जाने से हमारा त्राण है या संघर्ष में कूद पड़ने में? संसार से भागने में हम अगर रुदन और विलाप से बचते हैं तो हास-विलास से भी वंचित रहते हैं। संघर्ष से यदि हम भाग जाते हैं तो दुनिया में बुराई की शक्तियां और भी प्रबल होकर हमारे सामने आयंगी और हमको आराम-बाग में सोने न देंगी। इस लिए हमारा कर्तव्य है कि दुनिया के सागर में तिनके के समान भंवरों और लहरों के घात-प्रतिघात में बेवश होकर अपने जीवन को परिस्थितियों के हाथ में न सौंप दें; वरन् परिस्थितियों से लड़कर सच्चे तैराक की भांति लहरों पर विजय पाते हुए अपने को कठिनाइयों के पार ले जायें।

जो मनुष्य प्रसन्न चित्त होकर संसार के लहराते सागर में प्रवेश करता है उसको रत्न और घोंघे दोनों ही हाथ लगते हैं; लेकिन उनमें से कुछ रत्न बहुमूल्य होते हैं।

जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ

में बौरी ढूँड़न गई रही किनारे बैठ॥

इस दुनिया में देखने और खोजने वाले के लिए पथ-पथ पर सौंदर्य-सुषमा है। पक्षियों के कल-कूजन में, हिरनों की चंचल चौकड़ी में, विहगों की ऊंची उड़ान में,

मछलियों के गतिमय संतरण में, सरिताओं के कल-कल निनादमय वारि-विलोडित प्रवाह में, धूम-धुं आरे काजर-कारे बादलों में, अरुणोदय के सुनहले वैभव में, बालकों की तुतली भाषा, किलकारी और करतल की ताल पर थिरकने वाले नृत्य में, श्रमिक के परिश्रम में, चक्की पीसने वाली के मर्मभेदी राग में, विद्यार्थियों के हासोल्लास भरे खेलों में, साहसी लोगों की शैल-शिखरों की चढ़ाई में, यात्रियों के गंगा-स्नान में, जहां देखो तहां सौंदर्य की झलक है। इस सौंदर्य के सागर को छोड़कर आराम-बाग में, निष्पिता की सुख निद्रा में सोना कायरता नहीं वरन् मृत्यु ही है।

इस धारती के रोम-रोम में,
 भरी सहज सुन्दता।
 इसके रज को छू आकाश,
 बन मधुर विनम् निस्वरता।
 पीले पत्ते टूटी टहनी,
 छिलके कंकड़, पत्थर।
 कूड़ा करकट सब कुछ भू पर,
 लगता सार्थक सुन्दर।

--पंत

महाकवि शेक्सपीयर की विशाल दृष्टि ने वृक्षों में वाणी, पत्थरों में पोथियां, नालों में नीति और प्रत्येक वस्तु में कुछ सद्गुण देखे थे। देखने के लिए सहृदयता चाहिए।

दुनिया में दुख और संघर्ष अधिक है किन्तु उनके साथ सुख और शान्ति का भी अभाव नहीं। अस्पतालों की अपेक्षा होटलों की संख्या अधिक है। जेलों की अपेक्षा क्लब और सिनेमा घरों की बहुतायत है (दुनिया में सुख की मात्रा अधिक है, यदि न भी हो तो दुनिया को सुखमय बनाना हमारा कर्तव्य है। हम संसार के प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ गिने जाते हैं। हमारी सर्वश्रेष्ठता इसी में है कि संसार को जैसा हमने पाया है उसे उससे अधिक सुखमय बनायें। इसके लिए परिश्रम और संयम की आवश्यकता होगी।)

बिना सेवा के मेवा नहीं मिलती। वैज्ञानिकों ने प्रकृति की सेवा करके ही उसके रहस्य जाने हैं और उसको वश में किया है। तभी उनके इशारे पर संसार की शक्तियां-क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर और विद्युत भी-नाचने को तैयार रहती है।

हमें संसार को समझकर उसमें अपना कर्तव्य निश्चित करने की आवश्यकता

है। संसार को समझ लेने पर वह हमारा बन जाता है। उसके समझने के प्रयत्न करने में ही उसकी शक्ति और दुर्बलता का रहस्य मालूम होता है। अज्ञान और न समझने में ही कुरूपता और भयंकरता दिखाई पड़ती है। जिस मनुष्य को हम समझ लेते हैं वही मित्र बन जाता है और जिसको नहीं समझ पाते वही शत्रु बना रहता है। समझने के लिए हमको अपने अभिमान को तिलांजलि देनी होगी। शत्रु के पास जाकर उसके साथ रहना होगा तथा उसको अपना बनाना होगा। जो बात प्राकृतिक शक्तियों के लिए है वही मानवी शक्तियों के लिए भी है। प्रयत्नों से पत्थर भी मोम हो जाता है। प्रयत्न में सौन्दर्य है, आनन्द है, जीवन है; प्रयत्न की कुंजी से ही संसार के खजाने का द्वार खुलेगा; उसका सौन्दर्य दिखाई देगा और उसमें हम अपना कर्तव्य निश्चित कर सकेंगे। हृदय में आशा और विश्वास रखकर हमको सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

‘हारिए न हिम्मत विसारिए न रामा!’



समाज और व्यक्ति का लेन-देन

मनु ने कुछ-कुछ मुसका कर
कैलाश ओर दिखलाया,
बोले देखो कि यहां पर
कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।

--प्रसाद

मनुष्य का जन्म समाज में हुआ है और समाज से ही वह अपनी जीवन-शक्ति प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि वृक्ष और पौधे पृथ्वी से उत्पन्न होकर उसी से अपनी खाद्य-सामग्री ग्रहण कर बढ़ते रहते हैं। यद्यपि व्यक्तियों से समाज बनता है तथापि व्यक्ति भी समाज से बनता है। हम अपने समाज से उन्नत नहीं हो सकते हैं। हमारा शरीर, भाषा, भेष व खान-पान, आहार-विहार, आमोद-प्रमोद जब समाज के ही ऊपर निर्भर है। मनुष्य अकेला कमरे में बैठा हुआ मन-मोदक से अपनी भूख बुझाता रहे किन्तु वह हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ नहीं बन सकता। स्वस्थ जीवन के लिए उसे समाज के मुक्त वातावरण में आना पड़ेगा जहां संघर्ष में आकर वह 'शक्ति ग्रहण करेगा। अंधेरे में जमने वाले पौधे कुछ देर के लिए बहुत जल्दी बढ़ते दिखाई देते हैं। किन्तु शीघ्र ही मुरझा जाते हैं। उसी प्रकार समाज से अलग रहने वाला मनुष्य चाहे बढ़ जाये किन्तु फल-फूल नहीं सकता है। फलने और फूलने के लिए पानी के अतिरिक्त धूप और स्वच्छ वायु चाहिए। समाज के सम्पर्क और संघर्ष से बचना अपने को कमजोर बनाना है। संघर्ष का यह अर्थ नहीं है कि समय-कुसमय लड़ाई-झगड़ा ही मोल लेते रहे वरन् यह कि यह समाज और व्यक्ति तथा व्यक्ति-व्यक्ति में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न करते रहें। सत्ययत्न ही संघर्ष का सराहनीय रूप है।

समाज से हमारा चाहे संघर्ष रहे फिर भी हम उसके ऋणी हैं। हम उससे स्वतन्त्र नहीं हो सकते हैं। समाज और व्यक्ति का अवयवी और अवयव का-सा सम्बन्ध है। जिस प्रकार शरीर का एक अवयव सारे शरीर से अलग रहकर बढ़ नहीं सकता और न वह हृष्ट-पुष्ट हो सकता है उसी प्रकार व्यक्ति समाज से अलग रहकर हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सकता। समाज के ही वातावरण में उसकी शक्तियों का विकास होगा। एक आदमी कमरे में बन्द रहकर न बुद्धिमान बन सकता है और न सदाचारी। सदाचार और दुराचार समाज की अपेक्षा करते हैं।

जिस प्रकार व्यक्ति समाज पर निर्भर रहता है उसी प्रकार समाज व्यक्तियों पर आश्रित रहता है। एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है, इसलिए हमारा बड़ा उत्तरदायित्व है। यदि हम बुरे बनते हैं तो सारे समाज को बुरा बनाते हैं। यदि हम भले बनते हैं तो स्वयं अपना ही लाभ नहीं करते हैं वरन् सारे समाज का उद्धार करते हैं।

समाज का सुख-दुःख हम पर प्रतिफलित होता है यदि हम दूसरों को सुखी बनाते हैं तो हमारे लिए अनुकूल परिस्थितियां बन जाती हैं दुखी समाज में हम सुखी नहीं रह सकते हैं। वातावरण का मनुष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वातावरण का बनाना हमारे ही हाथ में है। यदि हम अच्छे विचारों, सद्भावनाओं और प्रेम के साथ संसार में प्रवेश करते हैं तो संसार हमारे लिए क्रमशः अनुकूल बनता जायेगा। यदि हम घृणा और द्वेष से संसार को देखेंगे तो वे भाव प्रतिध्वनित होकर हमारे पास आयेंगे। (संसार एक शीश-महल है जिसमें मनुष्य को अपने ही सैकड़ों प्रतिरूप दिखाई देते हैं। हम यदि उस शीश-महल में गुराते और ताल ठोंकते हुए प्रवेश करेंगे तो हम गुराते और ताल ठोंकते हुए दिखाई देंगे और यदि हम आलिंगन को हाथ बढ़ाये मुस्कराते हुए प्रवेश करें तो संसार हमको इसी प्रकार का दिखाई पड़ेगा। हमारे विचारों का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। पूर्ण अहिंसावादी के आगे हिंसक जन्तु भी अपनी हिंसावृत्ति छोड़ देते हैं ! कहा जाता है कि मजनू के पास शेर आकर प्रेम-भाव से बैठ जाता था।)

इसलिए विश्व के प्रति सद्भावना के साथ और समाज का अपने ऊपर ऋण स्वीकार करते हुए हमको अपना कर्तव्य निश्चित करना चाहिए। हमको पत्थर की न बनकर लकड़ी की नाव बनना चाहिए।

आप तरै तरै अवर; काठ नाव चित लाव।

बूडै बोरै अवर को, ज्यों पाथर की नाव॥



हमारा कर्त्तव्य-पथ

‘मार्गस्थो न सीदति’

मार्ग चलते जो गिरै ताको नाहीं दोष।
कह कबीर बैठा रहै ता सिर करड़े कोस॥

--कबीर

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत कभी मार्ग विस्तीर्ण है॥

--प्रसाद

इस धूप-छांवमय संसार में भेद-अभेद, आकर्षण-विकर्षण, संयोग-वियोग, जीवन और मरण सभी का संयोग है। मनुष्य नयनाभिराम और मनोनुकूल दृश्य देखकर पुलक मुकुलित होता और प्रतिकूल घटनाओं का सामना होने पर दुख से आर्त-नाद और करुण क्रन्दन करता है। लेकिन कार्यार्थी मनुष्य जीवन का उत्ताल तरंगों के आलोड़न-विलोड़न और संघर्ष से विचलित नहीं होता है। उसके सामने एक लक्ष्य होता है, उस लक्ष्य को दृष्टि में रख वह अविरल गति से अग्रसर होता रहता है।

‘इस संसार में अनेक प्रकार की लहरें उठती हैं-- कुछ तो सागर के सुलभ संतरण में योग देती हैं और कुछ तैराक की गति का अवरोध करती हैं। वे कुशल तैराक को पार जाने से रोक तो नहीं सकतीं किन्तु उसकी गति को मन्द अवश्य कर देती हैं। तैराक भी शक्ति का केन्द्र होने के कारण स्वयं भी लहर का एक रूप होता है। वह तिनके के समान लहर की गति पर निर्भर नहीं रहता वरन् वह भी और लहरों की गतिविधि निश्चित करने में योग देता है।’

हमार कर्त्तव्य क्या है ? भेद और संघर्ष के रहते हुए भी अनुकूलता और सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते रहना संसार में व्यवस्था है; किन्तु वह सहज में दिखाई नहीं देती है। कर्त्तव्यशील मनुष्य विघ्न-बाधाओं को हटाकर उनको प्रकाश में ले आता है। संसार सामंजस्य चाहता है और वह सहज में ही स्थापित हो सकता है

यदि हम स्वयं उसे बिगाड़ ने दें। संसार के सामंजस्यपूर्ण लक्ष्य को समझकर भेद में अभेद के राम-राज्य के स्थापित करने में योग देना ही हमारा कर्तव्य है।

जहां सुमति तहं सम्पति नाना। जहां कुमति तहं विपति निधाना॥

सामंजस्य स्थापित करने की इच्छा ही सुमति है। सामंजस्य ही धर्म है और ईश्वर की इच्छा है। कुमति भेद-बुद्धि का पर्याय है। दूसरों को तथा अपनी क्रियाओं को हम ईश्वर की इच्छा के अनुकूल बनाकर इस संसार को ही स्वर्ग बना सकते हैं। उसी को हम राम-राज्य कहेंगे। वही ईसामसीह के शब्दों में 'पृथ्वी पर खुदा की बादशाहत' की स्थापना होगी। सामंजस्य के लिए यह जरूरी नहीं कि भेदों का अभाव हो जाये और सब एक मत हो जायें वरन् यह कि भेद रहते हुए भी पारस्परिक विरोध न रहे, लोग एक दूसरे के मत का आदर करें और यथा-सम्भव संघर्ष को न्यूनातिन्यून कर दें।

'संसार में सामंजस्य स्थापित करने वाली बुद्धि का स्थान प्रेम के अथाह सागर में है जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में नैसर्गिक रूप से वर्तमान रहता है। प्रेम के इस स्रोत के प्रवाहित होने में हमारा स्वार्थ बाधक होता है। हमारी संकुचित दृष्टि का ही स्वार्थ हमारे प्रेम-मार्ग में बाधक होता है। उदार दृष्टि से स्वार्थ भी परार्थ बन जाता है। अपनी दृष्टि व्यापक बनाकर सारी मानवता के स्वार्थ से अपने स्वार्थ का सामंजस्य करना ही हमारा धर्म है। चोरी करना चोर का स्वार्थ अवश्य है किन्तु वह जिसके घर चोरी की जाती है उसके स्वार्थ से टकराता है। मेहनत करके रुपया पैदा करने में हमारे स्वार्थ की भी सिद्धि होती है और दूसरों की भी।

संकुचित स्वार्थ से बचने के लिए ही हमको प्रेम और ममता में भेद करना पड़ता है। ममता अपने को ही देखती है। प्रेम दूसरे का भी स्वार्थ देखता है। इतना ही नहीं वह अपने स्वार्थ को विश्व के स्वार्थ के लिए बलदान भी कर देता है।

अपने पराये का भाव ही ममतामय स्वार्थ का मूल है। अर्जुन को इसी ममता ने कर्तव्य-पथ से विचलित कर दिया था। तभी उसने अपना गाण्डीव धनुष रख दिया था और कहने लगा था :--

सीदन्ति मम गात्राणि मुखच परिशुष्यति।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।

न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वास्वजनमाहवे।

अर्थात् मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं और मुंह सूख रहा है। मेरे शरीर में कंपकंपी चढ़ रही है और रोमांच खड़े हो गये हैं। हे केशव ! मैं अपने सामने विपरीत लक्षणों को

पाता हूँ। अपने स्वजनों को युद्ध में मारकर श्रेय को नहीं देख रहा हूँ।

भगवान् कृष्ण ने उसको व्यापक धर्म और कर्त्तव्य का मार्ग बतलाया। कर्त्तव्य में ममता बाधक नहीं हो सकती है। कर्म करने वाला नीति-निपुणों की निन्दा-स्तुति की परवाह नहीं करता। उसको इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि उसके पास धन बना रहे, या चला जाये। वह आज ही मर जाये या युगान्तर तक जीवित रहे, वह धीर पुरुष न्याय-पथ से एक दम भी नहीं हटता है। देखिए :--

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्त

लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु या यथेष्टम्



आत्मोन्नति

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

अर्थात् आत्मा का उद्धार आत्मा द्वारा ही होता है, इसलिए आत्मा को नीचा मत बनाओ।

नहीं झिझकती है दीपावलि, अन्ध-प्रभा में आने से,
गिरकर पंकिल भी ओ धन-जल किसे नहीं तू भाता है?

हम इस संसार में खान से निकले हुए मिट्टी-धूल भरे सोने के समान आते हैं। सोने को दूसरे लोग तपा-गलाकर शुद्ध करते हैं और उसको मूल्यवान कंचन का रूप देते हैं। हम सोने की भाँति जड़ नहीं हैं। हम सचेतन और क्रियाशील हैं। हमको अपना उद्धार और सुधार आप ही करना चाहिये। हमारे मित्र हमको सलाह दे सकते हैं, गुरु हमको शिक्षा दे सकते हैं किन्तु उस सलाह और शिक्षा पर चलना हमारा काम है। अंग्रेजी में एक मसला है कि एक आदमी घोड़े को पानी तक ले जा सकता है किन्तु दस आदमी उसे पानी पिला नहीं सकते हैं (अगर वह न पीना चाहे) इसी प्रकार हम यदि मूर्ख और हठी हैं तो यदि ब्रह्मा भी गुरु मिलते हैं तो हम सुधर नहीं सकते हैं। तुलसीदासजी ने कहा है :--

आजकल का मनोविज्ञान ऐसा तो नहीं मानता कि बुरे लड़के का सुधार नहीं हो सकता फिर भी सुधार में सुधारे जाने वाले की सहकारिता अत्यन्त आवश्यक हैं। किना संकल्प और अभ्यास के सुधार नहीं हो सकता है। उसमें दृढ़ता की भी जरूरत है। जहाँ जरा फिसले, जहाँ जरा लालच में आये और आरामतलबी की ओर झुके वहाँ वर्षों की साधना धूल में मिल जाती है। मकान को बनाने की अपेक्षा उसका ढा देना सहज है।

उन्नति का मार्ग दुर्गम है। वह ऊंचे पहाड़ की चढ़ाई के समान है। आकर्षण, लालच और आलस्य का हमको पद-पद पर सामना करना पड़ेगा। इस सबसे बचकर हम यदि आगे बढ़ गये तो हमारी उन्नति और हमारा उत्थान निश्चित है। अगर हम

आलस्य में आ गये तो खरगोश की भाँति तेज होते हुए भी कछुए से बाजी हार जायेंगे।

हमें अपनी उन्नति को सर्वांगी बनाना है। जैसा कि हम आदर्श जीवन के प्रसंग में कह चुके हैं, हमको भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की उन्नति करना आवश्यकता है। भौतिक उन्नति के साथ मानसिक उन्नति भी अनिवार्य है। हमारी उन्नति का रूप ऐसा होना चाहिये कि उसमें भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का सन्तुलन रहे। मेघनाद या कुम्भकरण की भाँति भौतिक उन्नति कर लें और चाहे रावण की भाँति मानसिक उन्नति भी कर लें तो भी बिना शील और चरित्र के साक्षर होकर राक्षस बने रहेंगे। चरित्र भ्रष्ट होकर मानसिक उन्नति भी कोई मूल्य नहीं रखती है।

(हमारी आधुनिक शिक्षा में केवल मानसिक उन्नति पर ही ध्यान दिया जाता है, सो भी पूरी तौर से नहीं। उससे विचारों को सजीव और उपजाऊ बनाने की अपेक्षा ज्ञान को अलमारी की पुस्तकों की भाँति ठूस-ठूसकर भर देने की ओर अधिक प्रवृत्ति रहती है। हमारा ज्ञान गुलदस्ते के फूलों की भाँति चार दिन की चटक और शोभा दिखाकर परीक्षा के बाद परिम्लान हो जाता है। भौतिक उन्नति भी जो हमारे शिक्षालयों में कराई जाती है वह स्फूर्ति और साहस उत्पन्न नहीं करती। आध्यात्मिक उन्नति, शील और चरित्र की ओर तो ध्यान ही नहीं दिया जाता) हमको स्कूली शिक्षा के अतिरिक्त अपनी उन्नति का बीड़ा आप ही उठाने की जरूरत है। यह उन्नति का क्रम आजीवन चलता रहेगा। आत्मशिक्षण विद्यार्थी अवस्था में हो जाता है उतना उमर भर काम देता है। बुनियाद मजबूत हो जाने से इमारत चाहे जितनी ऊँची उठाई जा सकती है। बालकपन में पड़े हुए संस्कार और अभ्यास उमर भर काम देते हैं।

बालकपन में हमारा स्नायु संस्थान (Nervous System) अधिक संवेदनशील और प्रभावों को ग्रहण करने के लिए मोम की भाँति मुलायम होता है। बड़े हो जाने पर जो संस्कार बन जाते हैं वे सहज में मिटते नहीं हैं। नये संस्कार बनाने के लिए हमको पहले संस्कारों और अभ्यासों से लड़ना पड़ता है। अगर पहले संस्कार प्रबल हुए तो पीछे का सदुपदेश और सत्संकल्प भी काम नहीं देता, इसलिए हमको चाहिए कि बाल्यावस्था में ही अपने उन्नति-क्रम को आरम्भ करके एक निश्चित दिशा में ले जायें। इसमें हमको अपने स्नायु संस्थान की संवेदनशीलता और ग्राहकता का पूरा लाभ मिल सकेगा। छोटे वृक्ष की टहनियों को जिधर झुका दो उधर झुक जायेगी, किन्तु वृक्ष के बड़े हो जाने पर उसको रूप और आकार देना कठिन हो जाता है।

आत्मोन्नति के लिए आत्मविश्वास भी आवश्यक है हमको कभी अपने में हीनता-भाव को न आने देना चाहिए। अपने को नीचा और गिरा हुआ समझना ही आत्मा को दुखी बनाना है जिसे अपनी शक्तियों में विश्वास है वह सब कुछ कर सकता

है और जो पहले से ही कंधा डाल देने की प्रवृत्ति रखता है वह रोता हुआ रह जाता है और मरे की खबर लाता है। ऐस मनुष्य जो अपने में विश्वास नहीं रखता, जिसके हृदय में बल और साहस नहीं है वह कभी सफल नहीं हो सकता।

जीवन को उन्नत बनाने के लिए न तो मनुष्य को आत्म-विश्वास को खोना चाहिए (हृदय दौर्बल्य भौतिक दौर्बल्य से भी अधिक घातक है।) और न उसे अहंमन्य हो जाना चाहिए। अहंमन्यता आत्मविश्वास की दुषित छोर है। जो लोग यह समझते हैं कि हम सब कुछ जानते हैं, हम पूर्ण सदाचारी और न्यायी हैं और हमारे लिए कुछ जानना और करना शेष नहीं है वे अपनी उन्नति का द्वार बन्द कर चुके हैं।

उन्नति के लिए आत्मविश्वास के साथ सदा अग्रसर होते रहने की जरूरत है। हमको अजर और अमर समझकर विद्या और अर्थ की चिन्ता करनी चाहिए 'अजरामरवन् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्' और 'साबइव केशेषु मृत्युनाधर्ममाचरेत्' की बात याद रखते हुए धर्म का पालन करना चाहिए।

“गया वक्त फिर हाथ आता नहीं।” अवसर चूका सो चूका। अपने समय का सुदपयोग करते हुए आत्म-विश्वास के साथ उन्नति के मार्ग में बढ़ना हमारा कर्तव्य है हमको ऐसा विचार कभी पास नही आने देना चाहिए कि हम मूर्ख हैं, पापी हैं, पतित हैं, हमारा उद्धार होना कठिन है। अभ्यास के आगे सब सुलभ हो जाता है। अभ्यास ही मूक को बाचाल बना देता है। हकले आदमी से भारी वक्ता हो गये हैं। यूनान में एक बड़ा भारी वक्ता (उसका नाम कटो था) शुरू में हकलाता था। फिर वह अनमुंह में कंकट डालकर समुद्र के किनारे चला जाता और लहरों के गहरजने की प्रतिस्पर्धा करता हुआ गरजता और वक्तृता देता था। इस प्रकार वह बड़ा भारी वक्ता बन गया। संसार में वो बड़े आदमी हुए हैं आरम्भ से ही वो प्रतिभावान न थे, होनहार बिरवान के होत चीकने पात की बात बहुत अंश में ठीक है किन्तु बांध बांधने से छोटी नदी में भी जल का आधिक्य दिखाई देने लगता है और उससे नहर निकाली जा सकती है। अभ्यास से मूर्ख भी विद्वान हो सकता है। वृन्द कवि ने कहा है :--

--कबीर



सफाई और व्यायाम

शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्।

अर्थात् शरीर-रक्षा धर्म का पहला साधन है।

‘A Sound mind in a Sound body’

शरीर-रक्षा को धर्म का पहला साधन बतलाया गया है। इस संसार में हम जो कुछ करते हैं वह शरीर द्वारा ही करते हैं। शरीर आत्मा का मन्दिर है। उसको भी स्वच्छ, पवित्र और दृढ़ रखने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि किसी देव मंदिर की।

शरीर-रक्षा के लिये सफाई और स्वास्थ्य अत्यन्त आवश्यक है। सफाई के लिये अंग्रेजी में कहा गया है कि सफाई का ईश्वर से दूसरा दर्जा है। सफाई में शरीर की सफाई के साथ वस्त्रों और घर की स्वच्छता आती है। शरीर की सफाई के लिये स्नान सबसे आवश्यक है। जहां तक स्वास्थ्य सहारा दे, ठण्डे पानी से नहाने का अभ्यास डालना चाहिये और प्रातःकाल ही स्नान कर लेना वांछनीय है। उससे सारे दिन स्फूर्ति रहती है। हां, इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि हम स्नान के समय अपने को ठण्डी हवासे बचावें और भोजनादि के बाद स्नान न करें। इसलिये स्नान करके भोजन करने का आदेश दिया जाता है।

स्नान से पूर्व हमको अपने पेट, दांतों, जिह्वा आदि को स्वच्छ बना लेना आवश्यक है। अंग्रेजी ढंग से पुरुष शुद्ध नहीं रह सकते हैं और साफ न रहने के कारण वे रोग के उत्पादक बन जाते हैं। दातुन विशेषकर नीम या बबूल या मौलसिरी की विशेष लाभदायक होती है। आजकल की प्रथा के अनुसार कुछ लोग बिस्तरों पर ही चाय पीने का अभ्यास डाल लेते हैं। चाय तो वैसे ही हानिकारक है किन्तु बिना दन्तधावन किये चाय पीना रातभर की गन्दगी को पेट में ले जाना है।

कपड़ों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे रेशमी ही हों। बहुत से लोग रेशमी कपड़े इसलिए पहनते हैं कि वे जल्दी मैले नहीं होते। वास्तव में मैले तो होते ही हैं, शरीर का पसीना और मल उनमें भिद जाता है किन्तु वे सहज में मैले दिखाई नहीं

देते। वस्त्रों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे मैले दिखाई न दें वरन् उनको मैला होना भी न चाहिये। कपड़े स्वयं धो लेने का अभ्यास हो जाये तो सर्वोत्तम है। उसमें नित्य की सफाई के साथ थोड़ा व्यायाम भी हो जाता है और हाथ से काम करने का अभ्यास भी बढ़ जाता है।

वस्त्रों की सफाई के पश्चात् मकान की सफाई भी आती है। जिस प्रकार आत्मा के लिए शरीर की अशुद्धता आवश्यक है उसी प्रकार शरीर के लिए मकान की सफाई आवश्यक है। मकान के लिए हवादार होना अनिवार्य है। लोग चोरों के भय से मकान को सन्दूक बनाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु चोर हमारी इतनी हानि नहीं करते जितनी कि बन्द मकान। बन्द मकानों में सूर्य का प्रवेश न होने के कारण सील बनी रहती है और उसमें रोग के कीटाणु भी खूब पनपते हैं।

मकान के हवादार होने के साथ ही उसकी झाड़-पोंछ भी आवश्यक है क्योंकि बिना झाड़-पोंछ के वस्तुओं पर धूल जम जाती है और वे गन्दी दिखाई देती है। उनसे अरुचि उत्पन्न होती है और धूल में रोग के कीटाणु पालित-पोषित होते रहते हैं। झाड़-पोंछ से कीटाणु एक स्थान में आनन्द से बैठने नहीं पाते और उनकी मृत्यु भी हो जाती है। मकान पर सफेदी और अगर फर्श पक्के न हों तो गोबर-मिट्टी से लीपना रोग के कीटाणुओं का शमन करता है।

मकान को साफ रखकर उसको सुरुचि के साथ सुव्यवस्थित अलंकृत रखना भी आवश्यक है किन्तु मकान के अलंकरण तस्वीरें गुलदस्ते आदि इतने अधिक न होने चाहिए कि वे धूल और गन्दगी के अंडे बन जायें। सुव्यवस्थित घर से हमको प्रसन्नता मिलती है और हमारे कार्यों में कुशलता और सुलभता प्राप्त होती है। वातावरण का मन पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

शरीर-रक्षा के लिए नियमित आहार-विहार, समय पर सोना और जागना, संयत और सात्विक भोजन के साथ व्यायाम भी अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग साल भर कुछ नहीं पढ़ते और इम्तहान के दिनों में रात-रात भर जागते हैं वे अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ लेते हैं। आलस्यवश देर तक चारपाई पर पड़ा रहना भी उतना ही हानिकारक है जितना कि रात का न सोना। *Early to bed and early to rise makes a man healthy, Wealthy, and Wise.* समय पर सोना और जागना मनुष्य को स्वस्थ, धनवान और बुद्धिमान बनाता है।

भोजन हमको उतना ही करना चाहिए जितना कि हम पचा सकें। हमको जीने के लिए खाना चाहिए न कि खाने के लिए जीना चाहिए-- *We should eat to live and not live to eat.* महात्मा गांधी कितना कम खाते थे और फिर भी भारत के राजनीति के सूत्रधार बने रहे। स्वाद के लिए भोजन को अधिक गरिष्ठ या चटपटा बना

लेना हानिकारक सिद्ध होता है। अधिक मसाले भी पाचन-शक्ति को कम कर देते हैं। भोजन में शाक-पात और फलों का अधिक प्रयोग वांछनीय है। उन देशों की दूसरी बात है जहां अन्न कम पैदा होता है किन्तु मांसाहार स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक लाभदायक नहीं है वरन् हानिकारक ही है। उससे स्वभाव में तामसवृत्ति जाग्रत हो जाती है और क्रोध तथा आलस्य की मात्रा बढ़ जाती है।

व्यायाम नियमित होना चाहिए। उसमें भी 'अति सर्वत्र वर्जयेत' का नियम लागू होता है। व्यायाम में हमको यह जरूरी नहीं है कि किसी विशेष प्रकार का ही व्यायाम किया जाये। विदेशी खेल अधिक व्याय-साध्य हैं, किन्तु उनमें सामाजिकता अधिक आती है। यह सामाजिकता देशी खेलों में भी लाई जा सकती है। व्यायाम शरीर को पुष्ट और बलवृद्धि रखने का साधन-मात्र है; वह जीवन का साध्य नहीं है। हमारा व्यायाम यदि हममें से आलस्य को दूर नहीं कर सकता तो निरर्थक है। बहुत से बड़े-बड़े खिलाड़ी चाहे एक मील की दौड़ में बाजी ले जायें, लेकिन चारपाई से उठकर अपने आप पानी पी लेने में भी आलस्य करते हैं। यह प्रवृत्ति उनके खिलाड़ीपन की विडम्बना है। सच्चे खिलाड़ी को आलस्य के त्याग के साथ विफलता से न विचलित होना, दूसरों के साथ उदारता का व्यवहार आदि मानसिक गुणों का भी अपने में अनुशीलन करना चाहिए।

अपने हाथ से कुछ काम करना जैसे पानी भरना, बोझ उठाना, मकान की सफाई करना, कपड़े धोना भी व्यायाम का एक उपयोगी प्रकार है। हममें हाथ से काम करने का गौरव आना चाहिए। इसी को अंग्रेजी में Dignity of manual labour कहते हैं। अपने हाथ से काम करने में हममें समता का भाव बढ़ता है और हम जनता के साथ सम्पर्क में आते हैं। कर्मण्य के लिए कोई काम नीचा नहीं है। काम मनुष्य को ऊंचा उठाता है, उसको गौरव प्रदान करता है। काम करना एक प्रकार की पूजा है 'Work is Workship' जो आदमी हाथ से काम करते हैं उनमें आत्म-निर्भरता आती है। उनका जीवन संतुलित और सौन्दर्यमय बन जाता है। लोग उनका अनुकरण करने को तैयार रहते हैं। जो लोग काम से दूर भागते हैं उनके अनुयायी और नौकर-चाकर बेगार टालते हैं। हमको अपने नौकर से यह कहना कि जाओ अमुक काम कर लाओ यह अधिक श्रेयस्कर है कि आओ हमारे साथ यह काम करो।



मानसिक उन्नति

‘मन के हारे हार है मन के जीते जीत’

मनुष्य की सारी क्रियाओं का मूल स्रोत मन में है। इसीलिये शास्त्रों में कहा गया है कि ‘मनः पूतं समाचरेत’ मन को पवित्र बनाओ। मन को पवित्र बनाने में आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। आध्यात्मिक उन्नति से पूर्व हमारे लिये यह प्रश्न है कि मन को किस प्रकार सुसम्पन्न और सुसंस्कृत बनाया जाये, जिससे कि हम अपने जीवन-यापन में सफल हो सकें। हमको संसार में व्यवहारकुशल होने के लिये संसार के ज्ञान की आवश्यकता है। वह ज्ञान हमको निरीक्षण, गुरु की शिक्षा और अध्ययन एवं मनन से प्राप्त होता है।

ज्ञानोपार्जन तो सारी आयु भर होता है। अनुभव की पाठशाला में कभी छुट्टी नहीं होती; किन्तु विद्यार्थी जीवन उसके लिये विशेष उपयुक्त है। प्राचीनकाल और आजकल के विद्यार्थी जीवन में दो बातों का विशेष अन्तर है। पहली बात तो यह कि प्राचीनकाल में विद्यार्थी शहर से अलग गुरुकुल में रहते थे और समावर्तन संस्कार होने पर ही घर पर लौटकर गृहस्थ जीवन के चक्कर में पड़ते थे। आजकल का विद्यार्थी घर पर रहकर भी विद्योपार्जन कर सकता है और यदि वह छात्रावास में भी रहता है तो यातायात की सुविधाओं के कारण घर के सम्पर्क में अधिक रह सकता है। आजकल का विद्यार्थी गृहस्थ बन कर पिता होने का भी सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त कर लेता है। आधुनिक काल के विद्यार्थी को वह निर्द्वन्द्वता नहीं जो पहले के विद्यार्थियों को थी। पहले जमाने के विद्यार्थियों का शहरी वातावरण से अलग रहने के कारण प्रकृति से सीधा सम्पर्क अधिक रहता था।

दूसरा अन्तर इस बात का है कि प्राचीनकाल का विद्यार्थी सेवा से विद्योपार्जन करता था, आजकल का विद्यार्थी धन से। प्राचीन शिक्षा की झांकी देते हुए गुप्त जी लिखते हैं :--

पहले जमाने में गुरु और शिष्य का आध्यात्मिक और निजी सम्बन्ध होता था, तभी तो कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी अधिक महत्ता दी है और तुलसी ने गुरु-पद-पद्म-पराग को आंखों को अंजन बनाया है। आजकल के विद्यार्थी गुरुओं को अपना क्रीत दास समझते हैं, यहां तक कि कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने संस्मरणों में प्रारम्भिक शिक्षाकाल की गुलाम राज्य से तुलना की है। पहला विद्यार्थी अपने को गुरु का दास समझता था। भगवान श्रीकृष्ण को भी सुदामा के साथ लकड़ी बीनने जाना पड़ता था। पहले गुरुकुलों में इस सेवा-वृत्ति के कारण प्राचीनकाल में गुरु के साथ निजी सम्पर्क का भी प्राचुर्यमय प्रसार था। विद्यार्थी गुरु के परिवार का एक व्यक्ति बन जाता था और गुरु कुलपति कहलाते थे। आजकल तो गुरु शिष्य को सम्बन्ध कुछ-कुछ यान्त्रिक सा हो गया है, विशेष कर ऊंचे दर्जों में जहां पर कि विद्यार्थी गुरु के लिखाये हुए नोटों पर निर्भर रहता है।

हम यह नहीं कहते कि प्राचीन प्रथा की ही पुनरावृत्ति हो। उसमें थोड़ा दोष भी था। वह यह कि विद्यार्थियों को संसार का अपेक्षाकृत ज्ञान कम होता था। लेकिन हम अपने विद्यार्थी जीवन में प्राचीनकाल की बहुत-सी बातों को अपना सकते हैं। (1) हम प्रकृति से अधिक सम्पर्क बढ़ावें (2) गुरु शिष्य के साथ निजी सम्बन्ध स्थापित हों। (3) हमारे विद्यार्थियों में गुरु के प्रति आदर और विनय की भावना बड़े।

(ज्ञानोपार्जन का सबसे पहला सोपान निजी निरीक्षण है) संसार में हमको आंखें खोलकर चलना चाहिए और जो नई बात देखें उसकी व्याख्या के लिए अपने मस्तिष्क को कष्ट दें और यदि समझ में न आये तो गुरुजनों से पूछें। हम में अपने में कौतूहलवृत्ति को जागृत करना आवश्यक है। कौतूहल ही ज्ञान का जनक है। कौतूहल द्वारा जाग्रत हुए संसार की व्याख्या के प्रयत्न में विज्ञान और दर्शन शास्त्र का उदय हुआ। न्यूटन ने सेब को जमीन पर गिरते देखकर ही गुरुत्वाकर्षण का नियम बनाया था। जैम्सवाट ने रसोई घर में भाप-शक्ति से पतीली के ढक्कन को उठते और गिरते देखकर स्टीम एंजिन बनाने का श्रीगणेश किया था। सर जगदीशचन्द्र बसु गांव के मछुओं के लड़कों के साथ नदी में जल-जन्तुओं को देखा करते थे तभी वे जीव-विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ नवीन बातें बता सके। हमारा प्रारम्भिक निरीक्षण तो निरुद्देश्य ही होगा। किन्तु पीछे हम किसी विशेष समस्या को लेकर अपने निरीक्षण को सोद्देश्य बना सकते हैं। उस समय हमको पक्ष और विपक्ष दोनों के ही उदाहरणों को निष्पक्षतापूर्वक संग्रह करना चाहिये। हमारा अपने सिद्धांत की पुष्टि के उतसाह में विपक्ष की बातों की उपेक्षा करना अपनी अवैज्ञानिकता का परिचय देना होगा। पीछे वे ही विपक्ष की बातें हमारी हार और पराजय का कारण बन जाती हैं। विपक्ष की बातों का यथावत ध्यान

रखना ही तो वैज्ञानिक मनोवृत्ति है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति प्रयोगशाला में ही अपेक्षित नहीं होती है वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी आवश्यकता रही है। निष्पक्षता का ही दूसरा नाम वैज्ञानिक मनोवृत्ति है।

(शिक्षा और अध्ययन मानसिक उन्नति का दूसरा सोपान है) शिक्षा का अर्थ मस्तिष्क को ज्ञान से भर लेना नहीं है वरन् गुरुओं और पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान को अपने मानसिक संस्थान का अंग बनाना और उसके सहारे अपनी ईश्वरदत्त शक्तियों का विकास करना है। पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान हमारे निरीक्षण को सहारा देता है और उसके द्वारा शास्त्रीय ज्ञान परिपक्व होता है। अपने गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास रखते हुए हमको यथासम्भव प्रत्येक ज्ञान को अपने निजी अनुभव को विषय बनाना चाहिए।

यह बात हमको सखेद स्वीकार करनी पड़ेगी कि प्रत्येक ज्ञान हमारे निजी अनुभव का विषय नहीं बन सकता है। भूगोल का ही निजी ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूरे जीवन का पर्यटन पर्याप्त न होगा। इतिहास के लिए भी कोई ऐसा दूरवीक्षण यन्त्र नहीं बना है जो उसे हमारे लिए हस्तामलक बना दे। फिर भी हम इन विषयों का ज्ञान अन्य पुस्तकों से प्राप्त कर सकते हैं। भूगोल के लिए यात्रा की पुस्तकें पढ़ना वांछनीय है। इतिहास के लिए बुद्धों आदि के साहित्यिक वर्णन, जीवन-चरित्र आदि सम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन हितकर होगा।

(हमारे विद्यार्थी जीवन में शिक्षा के तीन साधन रहते हैं-- पाठ्य-क्रम की पुस्तकें, गुरु का उपदेश और सहकारी अध्ययन। पाठ्य-पुस्तकों को भी हमें परीक्षा पास करने की दृष्टि से नहीं वरन् तत्त्वदर्शन की दृष्टि से पढ़ना चाहिए) उन पुस्तकों द्वारा विचार और भाषा पर प्रभुत्व प्राप्त करना अपना ध्येय बनाया जा सकता है। जो पाठ हम पढ़ें उसमें हम यह देख लें कि हमको कौन-सा नया विचार मिला था। उसके द्वारा किस पुराने विचार का संशोधन या पुष्टिकरण हुआ। उसी विचार को हमें अन्य पुस्तकों में भी खोजन की चाह और प्रवृत्ति होना अपेक्षित है।

अध्ययन के साथ मनन भी आवश्यक है। मनन से ही ज्ञान परिपक्व होता है। मनन को ही गुनना कहते हैं। अपने अधीन ज्ञान का और ज्ञान के साथ तारतम्य स्थापित करना तथा उसको व्यवहार में लाने के अवसर और उपाय सोचना ही मनन है। ज्ञान का लक्ष्य क्रिया है। ज्ञान को उपयोगी बनाना प्रत्येक शिक्षार्थी का पुनीत कर्तव्य है।

हमारी पुस्तकें भाषा के नये-नये प्रयोग सिखाने में सहायक हो सकती हैं। हमको उनसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति के साधन खोजन चाहिए। पाठ्य-पुस्तकों में विचारों की अभिव्यक्ति ही तो है। हमको जो नया शब्द या वाक्यांश मिले उसका कोष से और गुरुओं से अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। शब्दों के अर्थ के चलते ज्ञान की जरूरत नहीं वरन् निश्चित ज्ञान अपेक्षित है। विद्यार्थियों के ज्ञान में

निश्चयता और यथार्थता आना अत्यन्त आवश्यक है।

शब्दों के अर्थ का ज्ञान ही नहीं वरन् उनका ठीक प्रयोग जानने में ही भाषा सम्बन्धी ज्ञान को सार्थकता है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है और यथार्थ अभिव्यक्ति बिना प्रयोग के नहीं आती। पढ़ना-लिखना युग्म अर्थात् जोड़े के शब्द; किन्तु हमारे विद्यार्थी पढ़ते अधिक हैं, लिखते कम हैं। पढ़ना-लिखना बराबर की मात्रा में होना चाहिए। लिखने से ज्ञान में निश्चयता आती है, लेकिन लिखना अनर्गल भाषण-सा न होना चाहिए। उसके नीचे अध्ययन और मनन की दृढ़ आधारशिलाएं होना आवश्यक है।

अध्ययन का क्रियात्मक प्रयोग और परीक्षा भी वांछनीय है। मस्तिष्क और हाथ का पारस्परिक सहयोग होना चाहिए। हमको अपने ज्ञान को मानसा, वाचा और कर्मणा द्वारा चरितार्थ करना जीवन के साफल्य में सहायक होगा। जिन लोगों ने बड़े-बड़े आविष्कार किये हैं वे सब हाथ से काम करने वाले थे। राइट बन्धु, जिन्होंने हवाई जहाज बनाया, साइकिल मरममत करने वाले दुकानदार थे।

विद्यार्थी जीवन समाप्त होने पर भी हमको विद्यार्थियों का-सा कौतूहल और उनकी जिज्ञासा-वृत्ति की आवश्यकता रहेगी। हमको शिक्षा नीच से नीच और छोटे से छोटे से मिल सकती है। भगवान् दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु बनाये थे। संसार के कण-कण में शिक्षा और मनन की सामग्री है। हमको आंखें और मस्तिष्क चाहिए।



मित्रता

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकलकर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिल्कुल एकान्त और निराली नहीं रहती है तो उसकी पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका हेल-मेल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते-बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है क्योंकि संगत का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरम्भ करते हैं जबकि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे उस रूप का करे--चाहे राक्षस बनाये या देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिये बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ संकल्प के हैं क्योंकि हमें उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहती है और न हमारे लिये कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को प्रायः बहुत कम रहता है। यदि विवेक से काम लिया जाये तो यह भय नहीं रहता, पर युवा पुरुष प्रायः विवेक से काम कम लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण-दोष को कितना परख कर लेते हैं। पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनसुंधान नहीं करते। वे उसमें सब बातें अच्छी ही मानकर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हंसमुख चेहरा, बातचीत का ढंग, थोड़ी चतुराई व साहस--ये ही दो चार बातें किसी में देखकर लोग झटपट अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है तथा जीवन के व्यवहार में उसका कोई अच्छा मूल्य भी है। यह बात हमें नहीं सूझती कि वह एक ऐसा साधन है जिससे आत्मशिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान का वचन है-- "विश्वासपात्र मित्र से बड़ी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाये उसे समझना चाहिये कि खजाना मिल गया।"

विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषध है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिये कि वे उत्तम संकल्पों में हमें दृढ़ करेंगे, दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे। सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची-मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की-सी धैर्य और कोमलता होती है ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक पुरुष को करना चाहिये।

छात्रावस्था में तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ी पड़ती है। पीछे के जो स्नेह-बंधन होते हैं, उनमें न तो उतनी उमंग रहती है न उतनी खिन्नता। बाल-मैत्री में जो मग्न करने वाला आनन्द होता है, जो हृदय को बेधने वाली ईर्ष्या और खिन्नता होती है, वह और कहाँ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है, कैसा अपार विश्वास होता है। हृदय के कैसे उद्गार निकलते हैं ! वर्तमान कैसा आनन्दमय दिखाई पड़ता है और भविष्य के सम्बन्ध में कैसी लुभाने वाली कल्पनाएं मन में रहती है। कितनी जल्दी बातें लगती हैं और किनी जल्दी-जल्दी मनना-मनाना होता है। 'सहपाठी की मित्रता' इस उक्ति में हृदय की कितनी भारी उथल-पुथल का भाव भरा हुआ है। किन्तु जिस प्रकार युवा प्ररुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शांत और गम्भीर होती है, उसी प्रकार हमारे युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन में करते होंगे। पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन के झंझटों में चलता नहीं। सुन्दर प्रतिभा, मन-भावनी चाल और स्वच्छन्द प्रकृति ये हो दो-चार बात देखकर मित्रता की जाती है, पर जीवन-संग्राम में साथ देने वाले मित्रों में इनसे कुछ अधिक बातें चाहिए। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें; जिससे अपने छोटे-मोटे काम तो हम निकालते जायें, पर भीतर ही भीतर घृणा करते रहें। मित्र सच्चे पथ-प्रदर्शक के समान होना चाहिए जिस पर हम अपना पूरा विश्वास कर सकें, भाई के समान होना चाहिए जिसे हम अपना प्रीति-पात्र बना सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए--ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज-खबर लिया करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों या एक बी रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता भी आवश्यक की वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शांत प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण

और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी, पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों में ही मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देखकर लोग दूसरों की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हममें नहीं है, हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हों। चिन्ताशील मनुष्य प्रफुल्लित-चित्त मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षा वाला चन्द्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिए चाणक्य का मुंह ताकता था। नीति-विशारद अकबर मन बहलाने के लिए बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्तव्य इस प्रकार बताया गया है--“उच्च और महाकर्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य के बाहर काम कर जाओ।” यह कर्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़ चित्त और सत्य संकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों, मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिससे हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा।

जो बात ऊपर मित्रों के सम्बन्ध में कही गई है, वह जान-पहचान वालों के सम्बन्ध में भी ठीक है। जान-पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है, उसमें खोने के लिए समय नहीं। यदि क, ख, और ग हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते हैं, न कोई बुद्धिमानी या विनोद की बात-चीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढाढस बंधा सकते हैं, न हमारे आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने चारों ओर जड़-मूर्तियां सजाना नहीं है। आजकल जान-पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थियेटर देखने जायेंगे, नाच-रंग में जायेंगे, सैर-सपाटे में जायेंगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान-पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आजकल बहुत बढ़ रही है। यदि शोहदों में से निकले जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन-रात बनाव-सिंगार में रहा करते हैं, महफिलों में ‘ओ हो हो’ ‘वाह’ किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा करते हैं और सिगरेट का धुआं उड़ाते चलते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य निःसार और शोचनीय

जीवन और किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनन्द से कोसों दूर है। उनके लिए न तो संसार में सुन्दर मनोहर उक्तिवाले कवि हुए हैं और न सुन्दर आचरण वाले महात्मा हुए हैं। उनके लिए न तो बड़े-बड़े वीर अद्भुत काम कर गये हैं और न बड़े-बड़े ग्रन्थकार ऐसे विचार छोड़ गये हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय में सात्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिए फूल-पत्तियों में कोई सौन्दर्य नहीं, झरनों के कलकल में मधुर संगीत नहीं, अनन्त सागर-तरंगों में गम्भीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शांति नहीं। उनकी आत्मा अपने इंद्रिय-विषयों में ही लिप्त है, उनका हृदय नीच आशयों और कुत्सित विचारों से कलुषित है। ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन-दिन अंधकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायेगा? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने मन में ठान लिया हो उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिए।

मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी-कभी राज्य का सब काम छोड़ अपने मेल के दस-पांच साथियों को लेकर विषय-वासना में लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना करके इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिए गया और उसने एक हंसमुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुंचा, तब डेमेट्रियस ने कहा-- “ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा नहीं।” पिता ने कहा-- “हां ! ठीक है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था।”

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत अगर बुरी होती, तो वह उसके पैरों में बंधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन-दिन अवनति के गढ़े में गिराती जायेगी और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाली बाहु के समान होगी जो उसे निरंतर उन्नति की ओर उठाती जायेगी।

इंगलैंड के एक विद्वान को युवावस्था में राजा के दरबारियों में जगह नहीं मिली। इस पर जिन्दगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहां वह बुरे लोगों की संगत में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे हाते हैं जिनके घड़ी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी-ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिए। चित्त पर ऐसे-ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उसकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारण में बहुत दिन तक टिकती हैं। इस बात को प्रायः सब लोग

जानते हैं कि भद्दी दिल्लगी वा फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं उतनी जल्दी कोई गम्भीर या अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन में कहीं से एक बुरी कहावत सुन पाई थी, जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे, पर बार-बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते, वे बार-बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें फंसाना चाहें। सावधान रहे, ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न हो अथवा तुम्हारे चरित्रबल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकने वाले आगे चलकर आप सुधर जायेंगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहां और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे-धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते-होते तुम्हारी घृणा कम हो जायेगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुंठित हो जायेगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायेगी। अन्त में होते-होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि--



समाज के प्रति हमार कर्त्तव्य

थी दूसरों की आपदा हरणार्थ अपनी सम्पदा,
कहते नहीं थे किन्तु हम करके दिखाते थे सदा,
नीचे गिरे को प्रेम से ऊंचा चढ़ाते थे हमीं,
पीछे रहे को घूमकर आगे बढ़ाते थे हमीं॥

--मैथिलीशरण गुप्त

यद्यपि आत्मा मन और बुद्धि से परे है तथापि आध्यात्मिक उन्नति मन और बुद्धि द्वारा ही होती है। मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के बीच की श्रेणी सामाजिक या कर्त्तव्य सम्बन्धी उन्नति है। मनुष्य इस संसार में अकेला नहीं है, वह समाज का अंग है। वैयक्तिक उन्नति सामाजिक उन्नति की अपेक्षा अधिक महत्व रखती है। जिस प्रकार व्यक्ति को अपने को उन्नत बनाना आवश्यक है उसी प्रकार समाज को भी उन्नत बनाना उसका कर्त्तव्य हो जाता है।

मनुष्य का दूसरों के साथ जो सम्बन्ध है उसमें न्याय, सहृदयता और उदारता की आवश्यकता है। जो मनुष्य दूसरो के साथ न्याय नहीं कर सकता है वह दूसरों से भी न्याय की आशा नहीं रख सकता है। न्याय तो सामाजिक जीवन की न्यूनतम आवश्यकता है। दूसरों को अपने अधिकार सुरक्षित रखने में सहायक होना ही न्याय है। जो जिसका प्राप्य है वह उसको बिना कष्ट और आपत्ति के मिलना चाहिये, यही न्याय का मूल मन्त्र है।

न्याय की दूसरी मांग यह है कि हम अपने उचित कार्यों के करने में स्वतन्त्र रहें और दूसरों की उचित स्वतन्त्रता में बाधक न हों। स्वतन्त्रता अच्छी चीज है किन्तु उसकी सीमाएं हैं, उसको स्वेच्छाचार में परिणत न होना चाहिये। हमको अपनी स्वतन्त्रता के साथ दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक न होने के लिये आत्मसंचय और नियंत्रण की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता और संयम का चोली-दामन का साथ है। वे एक दूसरे के पूरक हैं।

दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक न होने के लिये हमको सहृदयता की भी

आवश्यकता है। बिना सहृदयता के हम दूसरे का दृष्टिकोण नहीं समझ सकते हैं और बिना दूसरे का दृष्टिकोण समझे उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती है।

सुख और दुख के सम्बन्ध में हमको दूसरों को आत्मोपम्व दृष्टि से देखना चाहिये-- जो वस्तु हमको दुख देती है वह दूसरों को भी दुख देगी और जो हमको सुख देती है वह दूसरों को भी सुख देगी। दूसरों के सम्बन्ध में हमको अपने प्रतिकूल आचरण न करना चाहिये।

अपनी उन्नति के साथ दूसरों की भी उन्नति हो, इसके लिये सबको समान अवसर देने और उनकी रक्षा, भरण-पोषण आमोद-प्रमोद और आत्मोन्नति के समान अधि कार होना आवश्यक है। संसार में पूर्ण साम्यवाद तो एक स्वप्न की वस्तु है। किन्तु किसी को अपनी जीविका उपार्जन, शिक्षा और आत्मोन्नति के अन्य साधनों में रुकाव न होना चाहिये। हमारे जो अधिकार हैं उनका हम उन लोगों के पक्ष में, जिनके पास कम अधि कार हैं, बलिदान करना सीखें। यदि हमारे पास कुलीनता का अधिकार है कि दूसरे हमारा आदर करें तो हमको चाहिये कि हम उस अधिकार को छोड़कर स्वयं उनका आदर करें। कम से कम अबे-तबे तो न बोलें। रवि बाबू ने कहा है कि शूद्रों का जन्म भगवान् के चरणों से हुआ है 'शूद्रो पद्मभ्यामजायत'। भगवान के चरणों के समान वे भी पूज्य हैं। इसी भाव को मैथिलीशरणजी ने कुछ और बलवान बनाकर लिखा है:--

यदि हम धनवान हैं तो निर्धनों की आवश्यकताओं के लिए अपने धन का उत्सर्ग करें ताकि उनकी उन्नति में जो बाधाएं हैं वे दूर हो जायें। यदि हम स्वामी हैं और सेवक पर उसकी सेवा का अधिकार रखते हैं तो अपने अधिकार का थोड़ा परित्यग कर उसके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार द्वारा उसके बोझ को हलका करें।

सहृदयता और उदारता दैवी गुण हैं। उदारता किसी को बिना मांगे उपकार करने को कहते हैं। यदि मांगने वाले को हाथ पसरना पड़ा तो उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। हाथ पसारने के बाद जो हाते हुए नहीं कर देते हैं वे मनुष्यता से गिरे हुए कहे जायेंगे। रहीम ने कहा है :--

उदारता में देश, काल और पात्र का हमेशा ध्यान रखा जाना चाहिए किन्तु जिसके प्रति उदारता की जाये उसके स्वाभिमान को नष्ट न होने देना चाहिए। रामचन्द्र जी ने याचकों का दान और मान दोनों से सन्तोष किया था।

सेवा उदारता का ही अंग है। मनुष्य की सेवा भगवान की सेवा का अंग है। भगवान के विराट रूप में सारी चराचर सृष्टि आ जाती है। अबूविन आदम को मानव सेवा के कारण ही स्वर्ग के फरिश्ते ने भगवान के भक्तों में सबसे पहला स्थान दिया था। दरिद्र नारायण का सेवक स्वयं ही नारायण बन जाता है क्योंकि भगवान भी तो दीनबन्धु ही हैं। अपने हितचिन्तन के साथ दूसरों का हितचिन्तन मनुष्य को देवत्व के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है।

सेवा का सेव्य पर भारी असर पड़ता है। सेवा की आग सार्वजनिक है। हृदय-हृदय की भाषा जानता है। सेवा की आग में पत्थर भी मोम हो जाता है। महात्मा गान्धी नोआखाली में सेवा के ही द्वारा मुसलमानों में सद्भावना उत्पन्न कर सके थे। महात्मा गान्धी नागपुर विश्वविद्यालय के डॉक्टर तो थे ही, वे चिकित्सा के भी विशेषज्ञ डॉक्टर थे। रोगी-चिकित्सा उनके सेवा मार्ग का अंग था। उनको रोगी-सेवा के सम्बन्ध में श्रीमन्नारायण अग्रवाल अपने 'जुगनू' नामक निबन्ध संग्रह में लिखते हैं :-

“गांधीजी दुनियां के सामने महात्मा के रूप में ही पूजे जाते हैं। किन्तु 'महात्मा गान्धी' के बजाये उन्हें 'मानव गान्धी' कहना ज्यादा ठीक होगा। बापूजी 'महात्मा' शब्द की बातचीत में प्रायः हंसी उड़या करते हैं। गांधीजी की मानवता रोगियों की सेवा के रूप में विशेषकर प्रकट होती है। रोगियों की देख-भाल में उनका कितना समय जाता है, इसकी कल्पना बहुत कम लोगों को होगी। सुबह-शाम टहलने के समय तो वे बीमारों की और चक्कर लगाते ही हैं, किन्तु कभी-कभी तो वे दिन में भी सेवा सुश्रूषा में कई घंटे बिता देते हैं। सारे हिन्दुस्तान की बागडोर उनके हाथ में होने पर भी वे अपना डाक्टरी विभाग में इतना समय दे सकते हैं, यह आश्चर्य की बात अवश्य है। किन्तु जो लोग गान्धीजी के निकट रहते हैं, उन्हें इसका रहस्य मालूम हो जाता है।

बापूजी ने तो सेवा को ही अपना धर्म बनाया है। गरीबों तथा दुखियों की भूख

तथा दर्द में ही उन्हें परमेश्वर के दर्शन की झलक मिलती है, इसीलिए उनके इष्टदेव 'दरिद्रनारायण' व 'रोगी नारायण' हैं। इनकी सेवा करने में गांधीजी को सच्चा संतोष और आनन्द मिलता है, उनके दैनिक कार्य में कोई बाधा नहीं आती। राजनीतिक कार्यों के झंझटों के बाद जब बापूजी रोगियों की ओर जाते हैं तो उनका दिमाग फिर ताजा और प्रफुल्लित हो जाता है, उन्हें आन्तरिक शान्ति मिल जाती है, क्योंकि उन्हें प्रत्यक्ष सेवा का मौका मिलता है।

जब आश्रम का कोई कार्यकर्ता, मामूली से मामूली व्यक्ति अधिक बीमार हो जाता है, तो बापूजी ही डॉक्टर, नर्स, नौकर और मालिश करने वाले बन जाते हैं। वे ही रोगी को भोजन सम्बन्धी विस्तृत हिदायतें देते हैं। यदि उनसे कोई कह-- बापूजी, आपके पास बहुत काम है, रहने दीजिए, तो तुरन्त उत्तर मिल जाता है-- 'क्या मैं आदमी नहीं हूँ? जब मेरा पड़ोसी और मित्र पीड़ित है, तो मैं उसकी पर्वाह न करके क्या सेवा करूँ?' सचमुच पड़ोसी धर्म ही सच्चा धर्म है। अपने नजदीक रहने वाले लोगों की सेवा न करके देश और संसार की सेवा करने की योजनायें बनाना निरर्थक है।

यह भावना मनुष्य को मनुष्य बनाती है। ऐसे समाज सेवा के अवसर केवल रोगियों की सहायता में ही सीमित नहीं है। दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प और साम्प्रदायिक झगड़े सब कर्मण्य के लिए कर्तव्य की पुकार करते हैं। समाज में साम्प्रदायिकता के विष को फेलने से रोकना प्रत्येक देश हितैषी का कर्तव्य है। साम्प्रदायिक झगड़े देश के लिए कलंक हैं। समाज सेवक जहां किसी को पीड़ित देखता है वहां पर वह यह नहीं सोचता कि पीड़ित हिन्दू है या मुसलमान अथवा हरिजन है या सवर्ण हिन्दू। मानवता इन सकंकुचित भेदों को स्वीकार नहीं करती। यह हमारी कमजोरी है कि हम अपने से भिन्न सम्प्रदाय के लोगों के मरने या मिटने पर प्रसन्न होते हैं। हमको उनके भी बाल-बच्चों का ख्याल रखना चाहिए और अपनी सेवा और संरक्षणता से किसी सम्प्रदाय के लोगों को वंचित न करना चाहिए।

महात्मा तुलसीदास जी ने सन्त उसी को कहा है जो स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों के कष्ट का निवारण करता है। दूसरों के लिए जो कष्ट उठाया जाता है वह कर्तव्य की प्रसन्नता में परिणत हो जाता है।



पुरुषार्थ और संलग्नता

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः

दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति।

दैवं निहित्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या

यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्रदोषः* ?

कादर मन कहँ एक अधारा। दैव-दैव आलसी पुकारा।।

हमारे भारतवर्ष में भाग्यवाद और कर्मवाद की प्रधानता होने के कारण पुरुषार्थ का कुछ हास-सा दिखाई देता है।

खानखाना रहीम का नीचे का दोहा इसी विचारधारा का फल है :--

भीम ने विराटराज के यहां नौकरी अवश्य की थी, किन्तु अन्त में उन लोगों के पुरुषार्थ ने ही उनको विजयी बनाया था। हमारा भाग्य भी तो पिछले जन्म के पुरुषार्थ से ही बन जाता है। जिस प्रकार कल का कुपच--आज के उपवास से ठीक हो जाता है उसी प्रकार आज का पुरुषार्थ पिछले जन्म के भाग्य पर विजय पा लेता है। यदि पुरुषार्थ ही महत्ता न होती तो शास्त्रों का उपदेश ही वृथा होता। योगवशिष्ट में लिखा है कि जिस प्रकार एक बलवान मेढ़ा एक कमजोर मेढ़े पर विजय पा लेता है उसी प्रकार आज का प्रबल पुरुषार्थ कल के संस्कारों को दबाबर मनुष्य को विजयी बनाता है।

पुरुषार्थ का अर्थ है संकल्प को दृढ़ बनाकर कार्य में संलग्न हो जाना और आपत्तियों से विचलित न होना। विघ्नों के भय से नीच आदमी ही पुरुषार्थ-हीन बैठे

*उद्योगी पुरुषसिंह को ही लक्ष्मी मिलती है। लक्ष्मी भाग्य से मिलती है-- ऐसा कायर लोग कहते हैं। दैव का सहारा छोड़कर अपनी शक्ति से पौरुष करो। फिर यदि यत्न करने पर सिद्धि न प्राप्त हो तो किसका दोष है ? अर्थात् तुम दोषी नहीं कहे जाओगे।

रहते हैं। मध्यम लोग काम को आरम्भ तो कर देते हैं किन्तु विघ्न आने पर उसे बीच में छोड़ देते हैं। श्रेष्ठ लोग विघ्नों के बार-बार आने पर भी जो काम शुरू किया है उसको जब तक वह अन्त तक न पहुँच जावे छोड़ते नहीं हैं।

पुरुषार्थी मनुष्य दुख और सुख को नहीं गिनता। गर्मी, जाड़े और बरसात उसकी गति में बाधक नहीं हो सकते। उसके संकल्प में एकनिष्ठता और ध्रुव की-सी अचलता रहती है। उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा पार्वती-की-सी होती है 'कोटि जनम लागि रगरि हमारी, बरौं संभु न तु रहौं कुंआरी', 'त्रिया तेल हम्मीर हठ चढ़े न दूजी बार' का उसका संकल्प अटल रहता है।

पुरुषार्थी मनुष्य के लिये लक्ष्य की निश्चयता के साथ आत्म-विश्वास और उत्साह चाहिये। लक्ष्यहीन मनुष्य कभी सफल नहीं हो सकता है। उसकी शक्तियाँ केन्द्रस्थ नहीं रहती हैं। वह चाहे जितने हाथ-पैर पीटे किन्तु उसे सफलता के दर्शन नहीं होते। इसीलिये मनुष्य को बहुधंधी होना ठीक नहीं। मनुष्य को उतना ही काम हाथ में लेना चाहिए जितना कि वह सफलतापूर्वक कर सके और फिर अपने ध्यान को उसी लक्ष्य पर हजमा दे। सच्चा पुरुषार्थी वीरवर अर्जुन की भाँति चिड़िया की आंख के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। एक बार गुरु द्रोणाचार्य से अन्य राजकुमारों ने शिकायत की कि वे अर्जुन के ऊपर अधिक कृपा करते हैं। उन्होंने एक दिन शिक्षा के समय राजकुमारों से चिड़िया की आंख पर निशाना लगाने को कहा। एक-एक शिष्य से पूछा कि वह क्या देखता है ? किसी ने कहा कि व्यायामशाला में खड़ा हुआ पेड़ और और उस पर बैठी हुई चिड़िया। किसी ने कहा मैं पेड़ पर बैठी चिड़िया देखता हूँ। एक तीसरे ने कहा कि मैं चिड़िया देखता हूँ। किन्तु अर्जुन ने कहा कि मैं केवल चिड़िया की आंख को देखता हूँ। लक्ष्यमात्र पर एकाग्रता के साथ दृष्टि रखने के लिए ही उनके गुरु देवता उन पर प्रसन्न थे।

आत्म-विश्वास के बिना उत्साह नहीं आता। जो मनुष्य रोता हुआ जाता है वह मरे की खबर लाता है। विजेता सीजर के मन का आत्म-विश्वास ही उसे रुपिकन नदी के पार ले गया। 'जा के मन में अटक है सोई अटक रहा'। मन की अटक को दूर करके ही अटक नदी को पार कर लिया गया था। आलसी लोग ही आत्म-विश्वास को खो बैठते हैं। उत्साह ही मनुष्य को वीर बना देता है। वही वीर

रस का स्थायी भाव है।

पुरुषार्थी मनुष्य धीर और वीर होता है। उसमें वह धैर्य होता है जो कि कठिनाइयों, आपत्तियों और विफलताओं से विचलित नहीं होने देता है। उसके मुख पर सदा मुस्कराहट रहती है, कर्तव्य की प्रसन्नता में वह मग्न रहता है। हानि, लाभ, यश-अपयश को विधि के हाथ की बात समझकर वह 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्' अर्थात् कर्म करने का ही तेरा अधिकार है फल का नहीं, श्रीमद्भागवद्गीता के इन अमर वचनों को अपना आदर्श वाक्य बनाये रखता है। उसको न किसी पर खीझ होती है और किसी पर झुंझलाहट आती है। विफलता से वह हार नहीं मानता। प्रत्येक विफलता उसमें नया उत्साह और नई स्फूर्ति को उत्पन्न करती है। राबर्ट ब्रूनो के लिए कहा गया है कि उसने देखा कि एक मकड़ी को एक तार को इस पार से उस पार ले जाने में असफलताओं का सामना करते-करते बत्तीसवीं बार सफलता मिली। वह भी शायद उतनी बार हार गया था। फिर उसने युद्ध किया और उसे सफलता मिली।

नुकसान से पुरुषार्थी मनुष्य विचलित होकर अपने मन की शान्ति को भंग नहीं कर देता है। न्यूटन के लिए कहा जाता है कि वह एक यन्त्र द्वारा कुछ निरीक्षण किया करता था और उस यन्त्र के पास एक बड़ा चार्ट रखा रहता था, जिस पर दिन प्रतिदिन वह अपने निरीक्षणों का फल लिखता जाता था। उस कागज पर बरसों के परिश्रमपूर्ण निरीक्षण का फल अंकित था किन्तु वह कागज जीर्ण-शीर्ण हो गया था और उस पर कहीं-कहीं धब्बे भी पड़ गये थे। उसका एक नया नौकर आया। उसको यह वृत्तान्त मालूम न था। वह समझता था कि ऐसे जीर्ण-शीर्ण कागज से कमरे की सफाई और शोभा में कमी आती है। उसने मालिक की अनुपस्थिति में कागज को फाड़कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया और एक नया कागज यन्त्र के पास लगा दिया।

न्यूटन जब शाम को लौटा उसने पुराने कागज के स्थान में नया कागज पाया। उसने नौकर से पूछा। बेचारे ने साफ-साफ कह दिया कि उसने समझा था कि कागज पुराना हो गया और मालिक को नये कागज की जरूरत है, इसीलिए उसने उसको फाड़कर फेंक दिया। न्यूटन जानता था कि नौकर ने जो कुछ किया था नेकनीयती से किया किन्तु बेचारे में इतनी अक्ल न थी कि वह उस कागज का महत्व समझ सके। न्यूटन सावधानी के साथ फिर उस यन्त्र पर परिश्रम करके अपने निरीक्षण और प्रयोगों को अंकित करने लग गया।

न्यूटन के सम्बन्ध में एक और किम्बदन्ती है कि एक बार उसके कुत्ते ने उसकी एक पुस्तक की पांडुलिपि पर लेम्प गिरा दिया और वह जल गई। न्यूटन ने

केवल इतना ही कहा कि तू नहीं जानता तूने कितना नुकसान किया और फिर वह उस कार्य में संलग्न हो गया।

कार्लाइल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक जो उसने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति पर लिखी थी, मिल साहब को पढ़ने को दी थी। मिल साहब के यहां बहुत दिनों लापरवाही के साथ मेज पर रखी रही। एक बार वह मेज से गिर पड़ी और उनकी नौकरानी या नौकर ने उसको रद्दी समझकर उससे अंगीठी जलाने का काम लिया। कार्लाइल को यह बात मालूम हुई तो तनिक भी विचलित न हुए और फिर लिखना शुरू कर दिया। दूसरी पुस्तक जो लिखी वह पहले से अच्छी बनी।

पुरुषार्थी मनुष्य न दैव को दोष देता है न समय को और परिस्थितियों को वह स्वयं अपने अनुकूल बना लेता है। जो लोग केवल मनसूबे बनाना जानते हैं या प्रारम्भशूर होते हैं वे ही अपना दोष दूसरे के सिर मढ़ते हैं और 'नाच न जाने आंगन टेढ़ा की बात को चरितार्थ किया करते हैं।

पुरुषार्थी मनुष्य अपने में आत्म-विश्वास रखता हुआ भी अपनी कठिनाइयों की उपेक्षा नहीं करता। वह अपने काम को पूर्ण तैयारी के साथ करता है। चूहे के शिकार के लिए शेर के शिकार का सामान जुटाता है किन्तु उपयुक्त साधनों से ही काम लेता है। जहां छुरी से काम चलता है वहां तलवार का प्रयोग नहीं करेगा।

पुरुषार्थी मनुष्य दूसरे के साथ सहयोग करेगा किन्तु भरोसा अपने ही ऊपर रखेगा। दुनिया में जिन लोगों ने कुछ किया है वह पुरुषार्थ और संलग्नता के ही बल पर किया है। बहुत से लोगों का तो कहना है कि प्रतिभा भी संलग्नता का ही रूपान्तर है। दुनिया में जितने आविष्कार हुए हैं देखने में चाहे वे आकस्मिक मालूम हों किन्तु वे संलग्नता के ही फलस्वरूप संसार को मिले हैं। जिस आदमी ने इनेमिल (लोहे, तांबे वगैरह पर चीनी करने) को आविष्कार किया था उसने घर का फर्नीचर और किवाड़ तक जला दिये। पुरुषार्थी के लिए विराम को स्थान नहीं। न्यूटन को खाना खाने की भी याद नहीं रहती थी। सर जगदीशचन्द्र बसु और प्रफुल्लराय संलग्नता के कारण ही इतने ऊंचे उठ सके। सर जगदीशचन्द्र बसु के पिता उनको विलायत आई. सी. एस. के लिए भेजना चाहते थे किन्तु उनका ध्येय था विज्ञान। वे अपने पिता के कोप-भोजन बने और जब विदेश गये तो विज्ञान के लिए ही गए।

पुरुषार्थी अपनी संलग्नता में दूसरों के उपहास की भी परवाह नहीं करता है। चेचक के टीके के आविष्कारकर्ता का काफी मजाक उड़ाया गया। उससे कहा गया कि तुम गाय के थनों का वैकसीन मनुष्य के शरीर में प्रवेश कराकर क्या मनुष्य से बैल बनाना चाहते हो ? हवाई जहाज के आविष्कारक राइट ब्रादर्स का मजाक स्वयं उनके पिता ने उड़ाया था। उन्होंने कहा था कि मनुष्य के लिए हवा में उड़ना

असम्भव है और सम्भव भी हो तो ओहिओ (अमेरिका का वह नगर जहां वे रहते थे) कोई आदमी नहीं बना सकता। फिर ओहिओ के उन्हीं लड़कों ने पहला हवाई जहाज बनाकर हवा की विजय का श्रेय लिया।

पुरुषार्थी की जितनी महिमा गाई जाय उतनी थोड़ी है। पुरुषार्थ के बल पर ही शिवाजी और छत्रसाल इतने बड़े बने। पुरुषार्थ के ही कारण महात्मा गांधी जगद्धिख्यात बने।



वीरता

वीरत्व संसार में एक अमूल्य रत्न है। इसका आविर्भाव उत्साह से होता है। साहित्य-शास्त्र में उत्साह ही इसका स्थायी भाव माना गया है, अर्थात् बिना उत्साह के यह कभी स्थिर नहीं हो सकता। जिस पुरुष में किसी प्रकार का उत्साह नहीं है, वह किसी भी बात में कभी वीरता नहीं दिखला सकता। यह एक ऐसा गुण है कि जिसे न केवल वीर, वरन् कायर भी सम्मान की दृष्टि से देखता है। वीर से बढ़कर सर्वप्रिय कोई भी नहीं होता और संसार पर वीरता का जितना प्रभाव पड़ता है उतना प्रायः और किसी गुण का नहीं पड़ता। सत्य आदि भी बड़े अनमोल गुण हैं किन्तु जितना आकस्मिक और रोमांचकारी प्रभाव वीरत्व का पड़ेगा उतना सत्य आदि का कभी नहीं पड़ेगा। इसलिए वीरत्व में जगन्मोहिनी शक्ति सभी अन्य गुणों से श्रेष्ठतर है और यह कीर्ति का सबसे बड़ा वर्धक है। कायरता और भय से इसका सहज विरोध है। कायरता में तिलमात्र आकर्षण शक्ति तथा भय में कुछ भी प्रीति-योग्य नहीं है। कायरता का कोई भी अंश किसी का चित्त अपनी ओर आकृष्ट नहीं करेगा और भय में कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो किसी का प्रीतिभाजन हो सके।

वीरत्व को बहुत से लोगों ने सामर्थ्य में मिला रखा है, किन्तु इन दोनों में कोई मुख्य सम्बन्ध नहीं है। सामर्थ्य केवल इतना करता है कि वीरत्व की महिमा बढ़ा देता है। यदि वीर पुरुष बलहीन हुआ तो उसकी वीरता वैसी नहीं जगमगाती जैसी कि बलवानवीर की। यदि हनुमान जी समुद्र न फलाँग गए होते तो भी उतने ही बड़े वीर होते जैसे कि अब माने जाते हैं, किन्तु उनके महावीरत्व को चमकाने वाले उदधि-उल्लंघन और द्रोणांचलआनयन के ही कार्य हुए। वीरत्व और पराक्रम में इतना ही भेद है। वास्तविक वीरत्व का मुख्य आधार शारीरिक बल न होकर मानसिक बल है, जिसे इच्छा-शक्ति (Will-power) कहते हैं। इस शक्ति का वेग कोई भी नहीं रोक सकता। एक पुरुष की उद्दाम इच्छा-शक्ति से पूरी सेना में पुरुषत्व आ सकता है और एक कायर कभी-कभी पूरे (सैन्य) बल की कायरता का कारण हो जाता है। शरीर का वास्तविक राजा मन ही है। इसी की आज्ञा से शरीर तिल-तिल कट जाने से मुंह नहीं मोड़ता और इसी की आज्ञा से एक पत्ते के खड़कने से भाग खड़ा होता है। बुद्धि, अनुभव आदि इसके शिक्षक हैं। ये ही सब मिलकर

इसे जैसा बनाते हैं। वैसा ही यह बनता है। इच्छा इसी शिक्षित अथवा अशिक्षित मन की आज्ञा है। मन जितना ही दृढ़ अथवा डावांडोल होगा, उसकी आज्ञा, इच्छा वेशी ही पुष्ट अथवा शिथिल होगी। जिसका मन पूर्णतया शिक्षित और स्ववस है, उसी की इच्छा में वज्रवत् दृढ़ता होगी। बिना ऐसी इच्छा-शक्ति के कोई पुरुष पूरा वीर नहीं हो सकता। इसलिए दृढ़ता वीरत्व की सबसे बड़ी पोषिका है। जिसका मन उचित काम करने से तिलमात्र चलायमान होता ही नहीं और जो अनुचित कार्य देखकर बिना उसे शुद्ध किये नहीं रह सकता, वह सच्चा वीर कहलावेगा।

वीरत्व का द्वितीय पोषक न्याय है। बिना इसके वीरत्व शुद्ध एवं प्रशंसास्पद नहीं होता। न्याय के सच्चा होने को बुद्धि की आवश्यकता है और साधारण न्याय को उदारता से अच्छी कांति प्राप्त होती है। अतः वीरता के लिए न्यायशीलता, उदारता और बुद्धि की सदैव आवश्यकता रहती है। सच्चे वीर को अन्याय कभी सह्य नहीं होगा। हमारे यहां वीरता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान् रामचन्द्र का है। इन्हीं को महा कविवर भूति ने महावीर की उपाधि से भूषित करके महावीर चरित्र के नाम से इनकी जीवनी एक नाटक में लिखी है। आरण्यक में जिस काल आपने निश्चरों द्वारा भक्षित ब्राह्मणों की अस्थि का समूह निरीक्षण किया तो तुरंत “निश्चर हीन करौं महि, भुज उठाय प्रण कीन्ह।” यही उत्साह का परमोज्ज्वल उदाहरण था, जो आपने निशाचरों से बिना किसी वैर के हुए भी दिखलाया। समय पर आपने यह उद्दंडप्रण सत्य करके दिखलाया। इनकी इच्छा लोहे के समान पुष्ट थी, जो एक बार जाग्रत होने से फिर दब नहीं सकती थी। इच्छा और कर्म में कारण-कार्य को सम्बन्ध है, सो कारण शिथिल होने से कार्य का होना कठिन होता है। कहते हैं कि बिना दृढ़ेच्छा के सदसद्विवेकिनी बुद्धि की आज्ञा अरण्य रोदन हो जाती है। शुभ कार्यारम्भ के विषय में कहा है कि विघ्नभय से अधम पुरुष कोई शुभ कार्य आरम्भ ही नहीं करते और मध्यम श्रेणी के लोग आरम्भ करके भी विघ्न पड़ने पर उसे छोड़ बैठते हैं, किन्तु उत्तम प्रकृति वाले हजार विघ्नों को दबाकर एक बार का प्रारम्भ हुआ शुभ कार्य पूरा करके ही छोड़ते हैं।

सत्यनिष्ठा भी शौर्य के लिये एक आवश्यक गुण है। वीर पुरुष लोभ को सदैव रोकेंगा, ईमानदारी का आदर करेगा, असत्य भाषण से बचेगा और अपना वास्तविक रूप छोड़कर कोई भी कल्पित भाव अथवा गुण प्रकट करने की स्वप्न में भी चेष्टा नहीं करेगा। संसार में साधारण पुरुष लोकमान्यता के लालच में सिद्धान्तों को भंग करते हुए बहुधा देखे गए हैं। सिद्धान्तप्रिय पुरुष माने जाने की इच्छा लोगों में ऐसी बलवती देखी गई है कि लोगों द्वारा सिद्धान्ती माने जाने की लिये वे सबसे बड़े सिद्धान्तों को हंसते हुए चकनाचूर कर देंगे। जो लोकमान्यता के

लाभ से सिद्धान्त भंग को तैयार नहीं है वह पुरुष सच्चा वीर कहलाने के योग्य है। इस विषय का परमोत्कृष्ट उदाहरण हमारे उपनिषदों में सत्यकाम जबाला का मिलता है। जिस काल यह पुरुषरत्न अपने गुरु के पास विद्याध्ययनार्थ उपस्थित हुआ तो उन्होंने इससे माता-पिता का नाम पूछा। सत्यकाम ने माता का नाम तो जबाला बतला दिया किन्तु पिता विषयक प्रश्न का वही सीधा उत्तर दिया कि मेरा पिता अज्ञात है क्योंकि एक बार मेरे पूछने पर मेरी माता ने कहा था कि जिस काल तेरा गर्भाधान हुआ था उसे मास मेरे पास कई पुरुष आये थे सो मैं नहीं कह सकती कि तू इमें से किसका पुत्र है ? इस उत्तर को सुनकर सत्यकाम का गुरु अवाक रह गया किन्तु भावी शिष्य की सत्यप्रियता से परम सन्तुष्ट होकर उसने आज्ञा दी कि तू ही सत्यप्रियता के कारण आध्यात्मिक विद्या का सर्वोत्कृष्ट अधिकारी है। इतना कहकर गुरु ने उसे शिष्य किया और सत्यकाम का जबाला नाम रख उसे अपने सब शिष्यों से श्रेष्ठतर माना। समय पर वही सत्यवादी पुरुष ब्रह्मविद्या का सर्वोत्कृष्ट पंडित हुआ। इस पुरुषरत्न का घर सत्य का अवतार था, इसका मन निर्मल था और इसका बर्ताव उच्च था। इन्हीं बातों से एक जारज पुरुष होकर भी वह ब्रह्मविद्या का सबसे ऊंचा अधिकारी हुआ। इसीलिए कहा गया है कि मन, बर्ताव और गृह मिलकर मनुष्य को चरित्र बनाते हैं।

वीरत्व का सर्वश्रेष्ठ समय बल वय है। जितना उत्साह मनुष्य में इस अमूल्य काल में होता है उतना और किसी समय में नहीं होता। श्लाघ्य चरित्रवान् मनुष्यों को एक बालक जितना बड़ा मान सकता है उतना कोई दूसरा कभी न बानेगा। बाल वय में मन सफेद कागज की भांति होता है। इस पर सुगमतापूर्वक चाहे जो लिख सकते हैं। उदार चरित्र वालों में वीरपूजन किसी को श्लाघ्य एवं महावीर अवश्य मानता है। केवल महा की मात्र अधिकता से हाती है और ऐसा प्रति पुरुष किसी नीचे को ही संसार में कोई भी श्लाघ्य नहीं समझ पड़ता है। जिसमें श्लाघ्य चरित्रपूजन की कामना बलवती होती है उसमें वीरता कम से कम बीज रूप से तो रहती ही है। स्यात् इन्हीं विचारों से हमारे यहां वीरपूजन की रीति चलाई गई हो। बिना दूसरों के गुण ग्रहण किए लोग प्रायः उदारचेत्ता नहीं होते इसलिए वीरों में कोमलता और उदारता प्रायः साथ-ही-साथ पाई जाती है। प्रसन्नचित्तता भी इन्हीं बातों का एक अंग है। कहा गया है कि बुराई रोकने का पहला उपाय मानसिक प्रसन्नता है, दूसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता है और तीसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता ही है। बिना इसके बुराई रुक ही नहीं सकती। मानसिक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव प्रेम-भाव से होता है। जिस व्यक्ति से हम प्रेम करेंगे, वह लौटकर हमसे भी प्रेम करेगा। इसलिए जो संसार प्रेमी होता है उससे सारा संसार प्रेम करता है, जिससे वह सदैव प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा में वह बुराई किसके साथ करेगा ? प्रायः देखा गया है कि अपने साथ किसी

भी खोटोई का मूल कल्पना मात्र होती है। हम स्वयं असभ्यता कर बैठते हैं और जब दूसरा उसके प्रतिफल में हमारे साथ असभ्यता करता है तब हम आत्मप्रेम से अन्धे होकर समझ बैठते हैं कि वह निष्कारण हमारे साथ खोटोई करता है। इसलिए संभावित पुरुष को बुराई से सदैव बचना उचित है और क्षमा से अवश्य काम लेना चाहिये, क्योंकि वे जाने हुए भी हमारे द्वारा क्षमापात्र का अपकार हो जाना सम्भव है। खोटोई और निष्फलता का पहले ही से भय कभी न करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से कोई इनको नहीं जीत सकता। इनके जीतने का सबसे सुगम उपाय आशा ही है। इसीलिए कहा गया है कि आशा न छोड़ने वाला स्वभाव भी बहुत मूल्यवान है।

स्वार्थ-त्याग वीरता का सबसे बड़ा आभूषण है। दास-भाव ग्रहण करके यदि कोई विवाह-बन्धन में पड़े तो उसके इस कर्तव्य में कुछ-न-कुछ क्षति अवश्य पहुंचेगी। वीरवर हनुमान ने जब भगवान् का दासत्व ग्रहण किया तब आत्मत्याग का ऐसा अटल उदाहरण दिखलाया कि जीवन पर्यन्त कभी विवाह ही न किया। इधर भगवान् ने जिस काल यह देखा कि इनकी प्रजा इनके द्वारा सीताग्रहण के कारण उन्हें उच्चातिउच्च आदर्श से गिरा हुआ समझती है, तब इन्होंने प्राणोपम अर्द्धांगनी सती सती तक का त्याग करके अपने प्रजारंजन वाले ऊंचे कर्तव्य को हाथ से नहीं जाने दिया। बालवय में भी अपने पिता की वेमन की आज्ञा मानने तक में इन्होंने मिल-मात्र संकोच नहीं किया। अपने यात्रज्जीवन स्वार्थत्याग और कर्तव्यपालन का ऊंचा आदर्श दिखलाया, मानो ये सदेह कर्तव्य होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे।

कार्य-साफल्य साधारण दृष्टि से तो वीरता का पोषक है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से इसका शौर्य से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। दार्शनिक शुद्धता प्रति वास्तविक वीर कर्म में आ जाती है, चाहे वह तिल-मात्र भी सफल न हुआ हो और साधारण से साधारण पुरुष द्वारा सम्पादित हुआ हो। एक साधारण सेनिक जो अपने सेनापति की आज्ञा से मोर्चे पर शरीर त्याग देता है, दार्शनिक दृष्टि से बड़े विजयी के बराबर है। वीरता के मूल मंत्र कर्तव्य-पालन और स्वार्थत्याग हैं। बिना इसके कोई मनुष्य वास्तविक वीर नहीं हो सकता। एक बार दो रेलों के लड़ जाने से एक एंजिन हांकने वाला अपने एंजिन में दबकर वायलर में चिपक रहा। वह मृतक प्रायः था किन्तु उसके होश हवास नहीं गये थे। इसलिए वह जानता था कि बायलर जल्द फट कर फटेगा, सो जब और लोग उसे छुड़ाने के लिए प्रयत्न करने लगे तब उसने उन सबको वहां से यह कहकर खदेड़ दिया कि मैं तो मरा ही हूँ, तुम सब यहां प्राण देने क्यों आए हो, क्योंकि भाप के बल से बायलर अभी फटना चाहता है, जिससे सबके प्राण जायंगे। मरणावस्था में भी दूसरों के लिए इतना ध्यान रखना वीरता का बड़ा लक्षण है।

वीरत्व के लिए भय का देखना तक ठीक नहीं कहा गया है। इसीलिए हमारे यहां वीर को शूर कहते हैं कि अन्धे की भांति वह भय को देख ही न सके। बालक, स्त्री, दीन, दुखियों आदि के उद्धार में वीर पुरुष अपना जीवन तृण के समान दे देवेगा।



समय का सदुपयोग

समय लाभ सम लाभ नहीं समय चूक सम चूक।
चतुरन चित रहि मन लगी, समय चूक की हूक॥

--रहीम

‘Time is money’

हमारी आयु समय से ही बनी है। मृत्यु को काल आ जाना कहते हैं। समय केवल रुपया ही नहीं वरन् जीवन है। समय की बचत जीवन की वृद्धि है। मनुष्य के जीवन के माप सांस लेने मात्र से नहीं होता है वरन् वह उस समय में जो काम करता है उसी से होता है। स्वामी शंकराचार्य 32 वर्ष ही जीवित रहे। ईसामसीह का जीवन भी तीस या बत्तीस वर्ष का ही था। भरतेन्दु हरिश्चन्द्र की दीर्घजीवी नहीं हुए। किन्तु इन लोगों ने अपने थोड़े से जीवन में जो काम किया वह बहुत से लोग अपनी दीर्घ आयु में भी न कर सके। इसका रहस्य क्या है ? यही कि इन्होंने अपने समय का सदुपयोग किया।

समय अमूल्य है क्योंकि कोई नहीं जानता कि हमारे लिये किस समय सफलता का द्वार खुलता है। अवसर हमारे लिये ठहरते नहीं। हमको उन्हें आगे से पकड़ना पड़ता है। जागरणशील मनुष्य ही अवसरों से लाभ उठा सकते हैं। अवसर भाग्य से मिलते हैं किन्तु अवसरों के होते हुए भी व्यसनी और आलसी लोग उनको हाथ से चला जाने देते हैं फिर हाथ मलकर यही कहना होता है कि ‘अब पछताए कहा होत है जब चिड़िया चुग गई खेत’ महामना मालवीय, गोखले, तिलक और गांधी भी अवसरों का लाभ उठाकर ही बढ़े हैं किन्तु और लोग उन अवसरों के होते हुए भी लाभ न उठा सके। इसका कारण यही है कि वे अपने व्यसनों में इतने मस्त थे कि अवसरों को अपने हाथ से चला जाने दिया।

अवसर से लाभ उठाना अवसर-वादिता (Time serving) नहीं है। अवसरवादी मनुष्य अपने सिद्धान्त में दृढ़ नहीं रहता है किन्तु अवसर से लाभ उठाने वाला मनुष्य उचित अवसर की खोज में रहता है। वह हर एक अवसर से लाभ नहीं उठाता है।

समय का सदुपयोग करने वाले को अवसरों की बाट नहीं जोहनी पड़ती।

छोटे-से-छोटा अवसर उसके लिये दुधारू गाय का काम देता है क्योंकि वह समय का सदुपयोग कर उससे जितना लाभ उठाया जा सकता है उतना लाभ उठाता है।

समय थोड़ा है, काम बहुत है इसलिये समय का सदुपयोग आवश्यक हो जाता है। यदि हमारी आयु लोमश ऋषि के समान भी हो तो भी समय को न खोना चाहिये। उससे जितना अनुभव प्राप्त किया जाये उतना करना चाहिए। संसार में ज्ञान और अनुभव का अन्त नहीं है किन्तु मनुष्य जीवन सान्त है। अपनी सान्तता को ध्यान में रखते हुये समय का पूरा सदुपयोग करना आवश्यक है।

निद्रा मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है किन्तु चारपाई पर पड़े-पड़े करवटें बदलते रहना अथवा रजाई की भरक का मोह न छोड़ना मनुष्य के लिये आवश्यक नहीं। यदि मनुष्य अपने समय का सदुपयोग करे तो उसको समय के अभाव की शिकायत करने की गुंजायश नहीं है। मनुष्य को काम कर लेने पर ही विश्राम की सोचना चाहिये। जो लोग पहले विश्राम कर पीछे काम करने की सोचते हैं वे उस काम को पूरा करने में कभी सफल नहीं हो सकते हैं। जहां हमने थोड़ा आलस्य किया, विश्राम लेना आरम्भ किया या ताश-शतरंज वा गप्पों में रम गये तो फिर समय का ध्यान नहीं रहता। समय अपनी द्रुतगति से चलता रहता है। सूर्य और चन्द्र की गति को कोई नहीं रोक सकता। समय निकल जाता है या कम रह जाता है तो हम काम को अधूरा ही कर पाते हैं। जल्दी का काम शैतान का होता है। जल्दी उन्हीं लोगों को करनी पड़ती है जो अपने समय को व्यर्थ खोते हैं। इसलिये कहा गया है :--

बहुत से विद्यार्थी सालभर चैन की बंशी बजाते हैं। देर तक चारपाई पर सोते रहे। चाय-पानी के साथ गप्पाष्टक का भी क्रम जारी रखा। स्नान भी लिये-दिये किये, भोजन को भी नौकरों को डांटते-फटकारते खाया और फिर स्कूल या कॉलेज गये। वहां अध्यापकों की शिक्षा को सुनी अनुसुनी कर दिया। अधूरे नोट लिखे, छपे हुये नोटों का भरोसा किया। कॉलेज में मास्टर्स की, भलाई-बुराई की और मैचों या सिनेमाओं की आलोचना की। लौटकर आये टेनिस खेले, उसके पश्चात् खाना खाकर या बिना खाये ही सिनेमा गये या ताश खेल, गप्पाष्टक लड़ाई या कविताएं लिखीं। इस प्रकार के कार्यक्रम में विद्यार्थियों के शिशिर-बसंत बीतते हैं। इन्तहान के दिन निकट आने पर नोट और परीक्षकों के स्कूल या कॉलेज से आये हुए 'हिन्दों' अर्थात् संकेतों को वेद-वाक्य की भाँति प्रमाण मानकर उनके आलोक में तैयारी की। विषय का ज्ञान अधूरा ही रहा और जो कुछ रटा-रटाया ज्ञान प्राप्त किया उसका परीक्षा भवन में वमन कर देने के पश्चात् उससे अपना पल्ला छुड़ाया। यही आजकल साठ प्रतिशत

विद्यार्थियों की शिक्षा है।

अच्छी शिक्षा के लिये नित्य के भोजन की भांति नित्य का अध्ययन समय-विभाग के अनुकूल आवश्यक है। व्यसनों के लिये समय रखा जाये किन्तु पहले अध्ययन फिर व्यसन। कोर्स की किताबों के विधिवत् अध्ययन के लिये दो साल पर्याप्त नहीं होते। किन्तु यदि उन पुस्तकों का विधिवत् अध्ययन किया जाये तो वह अपने विषय का पंडित हो सकता है। यह तभी हो सकता है जब वह अपने समय का सदुपयोग करे।

समय का सदुपयोग विद्यार्थी जीवन के लिये ही आवश्यक नहीं है वरन् गृहस्थ जीवन के लिये भी उतना ही आवश्यक है। अपने उद्योग-धन्धे के लिये योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है और हाथ-पैर पीटने पड़ते हैं-- 'नहिं सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशान्ति मुखे मृगाः'। समय का एक-एक क्षण सम्भावनाओं से भरा रहता है। समय को नष्ट करना उन सम्भावनाओं को हाथ से खोना है।

जो मनुष्य दीर्घसूत्री होता है, आज के काम को कल पर टालता है वह जीवन में कभी सफल नहीं होता है। समय किसी की बाट नहीं जोहता है। उसको आगे से पकड़ना होता है। Catch time by the forelock.

महात्मा गांधी, जहवाहरलाल नेहरू, डॉक्टर रोजन्द्रप्रसाद अपने समय के एक-एक मिनट की रक्षा करते हैं, तभी वे इतने काम करने में सफल होते हैं। कार्नेगी, रोकफेलर, हेनरी फोर्ड, बिड़ला आदि केवल भाग्य के सहारे ही धन-कुबेर नहीं बन गये। इन्होंने अपने समय को परिश्रम से सफल बनाया। महात्मा गांधी तो बातचीत करने में भी तकली कातते रहते थे और व्यर्थ बातचीत करने से बचने के लिये ही वे सप्ताह में एक बार मौनव्रत धारण करते थे। समय के सदुपयोग में समय की पाबन्दी भी एक आवश्यक अंग है। समय की पाबन्दी से अपना ही समय नहीं बचता है दूसरों का भी समय नष्ट होने से बचता है। जो लोग समय के पाबन्द नहीं हैं तथा सोसाइटियों में देर से जाते हैं यदि वे नेता हैं तो दूसरों का समय नष्ट करते हैं और शोर-गुल के उत्तरदायी बनते हैं। यदि वे साधारण पुरुष हैं तो बीच में पहुँचकर सभा के कार्यक्रम में बाधा डालते हैं अथवा लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर उनके सावधानीपूर्वक सुनने में बाधक होते हैं।

समय के सदुपयोग करने में हमको टालमटोल न करना चाहिये। जिन्दगी और मौत अपने हाथ की बात नहीं है। गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।



सद्व्यसन

व्यसन शब्द प्रायः बुरे अर्थ में ही आता है। जुआ, चोरी, शराब पीनाआदि व्यसन अवश्य बुरे हैं किन्तु व्यायाम, कुशती, पर्यटन, साहसी कार्य, संगीत, कविता करना, चित्रकारी, बढईगीरी, मूर्तिसंग्रह आदि व्यसन अच्छे कहे जा सकते हैं।

हमारा मन विश्राम और विषय का परिवर्तन चाहता है। एक ही विषय पर मन लगे रहने से जी ऊब जाता है। मनुष्य को आवश्यक कार्य, जैसे ईश्वराधना, आजीविका-उपार्जन अथवा समाज-सेवा के कर लेने पर भी कुछ समय बचता है। उसके सदुपयोग का प्रश्न रहता है कि वह उस समय क्या करे। खाली बैठता है तो दूसरों की बुराई-भलाई करता है या कोई षड्यन्त्र रचता है। खाली दिमाग शैतानी कारखाना बन जाता है (An ideal man's mind is the devil's work shop.) इस कारण उस खाली समय के लिए मन को व्यस्त रखने के अर्थ कुछ गोरखधंधा चाहिए।

इसके अतिरिक्त मनुष्य को बुरे व्यसनों से बचने के लिए कोई दूसरा व्यसन ही वांछनीय है। वे व्यसन कौन से होने चाहिए? इन व्यसनों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह है कि इनका अनुशीलन इस हद तक न पहुँच जायें कि ये धर्म और अर्थ के उपार्जन में बाधक हों। कविता कर रहे हैं तो दिन-रात कागज पेन्सिल लिए बैठे ही रहते हैं, न जीविका उपार्जन की फिक्र है न बाल-बच्चों की खबर है। बेचारी गृहिणी गार्हस्थिक आवश्यकताओं के अभाव के कारण अपने भाग्य को कोसती है। ऐसी स्थिति में कविता करना या चित्रकारी करना दुर्व्यसन बन जाता है। समाजोपकारी कार्यों में भी जैसे समाज-सेवा, राजनीतिक कार्य अथवा वैज्ञानिक अनुसंधान में घर की चिन्ताओं को भूल जाना तक सीमा एक क्षम्य माना जाता है। किन्तु जिसने अपने ऊपर गृहस्थी का भार ले लिया है उसको अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना ही पड़ता है। समाज के सभी लोग ब्रह्मचारी नहीं रह सकते हैं।

जो व्यसन अपनाये जायें उनमें यथासम्भव कुछ उपयोगिता भी हो तो अच्छा है। (जैसे बढईगीरी के काम को एक कला के रूप में अपनाना)। वैसे तो बहुत सी चीजें ऐसी हैं जिनका भौतिक उपयोग नहीं है, किन्तु मानसिक उपयोग है। उनको भी हम सुविधापूर्वक अपना सकते हैं। संगीत ऐसा ही व्यसन है। संगीत से मानसिक प्रसन्नता और शान्ति मिलती है। कहीं-कहीं तो संगीत का प्रयोग मानसिक रोगों को

अच्छा करने में भी होता है। कविता करना भी संगीत की कोटि में आता है। उसका प्रभाव संगीत की अपेक्षा दूर तक पहुंचता है और चिरस्थायी भी होता है। रेडियो की बदौलत संगीत का प्रभाव दूरव्यापी हो गया है, फिर भी उसमें इतना स्थायित्व नहीं (जब तक उसकी रिकॉर्ड न बना ली जायें) जितना कि कविता में। कविता का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों ही हो सकते हैं। हम शृंगार का बहिष्कार नहीं चाहते हैं किन्तु उसमें समय और मर्यादा की आवश्यकता है। शुद्ध कला की दृष्टि से भी कविता प्रसन्नता का साधन बन सकती है, किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से देश-प्रेम को प्रोत्साहित करने वाली कविताएं तथा शोषितों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने वाली रचनाओं को अधिक महत्व है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि कला की दृष्टि से कविता का अनुशीलन बिल्कुल छोड़ ही दिया जाये।

चित्रकारी और फोटोग्राफी भी ऐसे व्यसन हैं जिनको उपयोगी बनाया जा सकता है। फोटोग्राफी द्वारा हम अपने दूसरे भाइयों को जो यात्रा करने में असमर्थ हैं यात्रा का लाभ दे सकते हैं। चित्रकारी का उपयोग पोस्टर आदि बनाने में हो सकता है, लेकिन यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य हर समय उपयोगिता का ही ध्यान रखे। मन की प्रसन्नता भी एक सबसे बड़ा उपयोग है। फोटोग्राफी अच्छा व्यसन है किन्तु खर्चीला अवश्य है। सीमित आय के लोगों के लिए यदि वे उसे उपयोगी न बना सकें तो इस व्यसन को अधिक प्रोत्सान न देना चाहिए।

बागवानी के व्यसन में उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों का समन्वय हो सकता है। बागवानी में फूल और शाक-भाजी तो उत्पन्न किये जाते ही हैं किन्तु उसमें हाथ से काम करने और थोड़े मृदु व्यायाम को भी अवसर मिल जाता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए कुछ न कुछ हाथ से काम करना आवश्यक है। बागवानी खर्चीला व्यसन भी है और बिना खर्च का भी। हाथ से काम करने वाले लोगों के लिए यह अल्प व्यय-साध्य है। इसमें प्रकृति बहुत कुछ सहारा दे सकती है। जिसके पास थोड़ी-सी भी जमीन है, यानी दस-बीस गज मुरब्बा जमीन भी है, वह भी अपने लिए कुछ न कुछ उतपादन कर सकता है। सेम, तोरई, घीया, काशीफल आदि बेल की तरकारियां कम स्थान घेरती हैं। जड़ के लिए थोड़ी जमीन चाहिए फिर वे दीवार या छप्पर पर चढ़ जाती हैं।

बीजों की भी समस्या बहुत कठिन नहीं है। बहुत-सी चीजों के बीज तो घर ही में उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे पक्के टमाटरों में से टमाटर के बीज निकल आते हैं। पपीते का भी बीज खाने के पपीतों में से सहज में मिल जाता है। आम के आम और गुठली के दाम की बात सार्थक हो जाती है। कभी-कभी करेलों में से भी जब रखे-रखे पक जाते हैं, बीज प्राप्त हो जाते हैं। सरसों का बीज गेहूं के छानन-बीनन में से मिल जाता है।

जो बीज इस प्रकार नहीं मिल सकते वे सहज में खरीदे जा सकते हैं। बीज बहुत

सस्ते मिलते हैं। पालक, मूली, गाजर, लौकी, काशीफल आदि के बीज प्रायः मामूली पंसारियों से सस्ते मिल जाते हैं। हर एक बड़े शहर में बीज बेचनेवाले भी होते हैं, नहीं तो बाहर से भी मंगाये जा सकते हैं। बागवानी के लिए खाद और पानी की समस्या रह जाती है। जिन लोगों के यहां जानवर होते हैं उनके यहां गोबर का खाद सहज में ही बन जाता है। सूखी पत्तियों, छिलकों आदि का भी खाद उनको जमीन में गाड़ कर बनाया जाता है। बरसात में तो पानी की प्रायः जरूरत नहीं होती (जहां बरसात कम होती है वहां की दूसरी बात है) और अन्य ऋतुओं में स्नानादि में जो पानी खराब जाता है उसका बागवानी में सदुपयोग किया जा सकता है। पानी अगर सब्जी को मिलता रहे तो बाकी काम प्रकृति स्वयं कर लेती है। प्रकृति की देन बहुत बड़ी है। उसकी ब्याज बनिए की ब्याज से कहीं अधिक होती है। बनिए की ब्याज सोते-जागते दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती है किन्तु प्रकृति की देन थोड़ा जागरण चाहती है।

सब्जी-भाजी उत्पन्न हो जाने पर उनके संचयन में बड़ा आनन्द आता है। उनका महत्त्व बाजार की खरीदी हुई शाक-भाजी से अधिक होता है। उसमें अपने परिश्रम से उत्पन्न किये हुए का भाव लगता रहता है और उन पर हम गर्व भी कर सकते हैं। इधर-उधर पत्तों में छिपी हुई फलियों ओर सब्जियों की तलाश में मनुष्य की खोज-वृत्ति का भी तोष हो जाता है। जो आनन्द शिकारी को शिकार खेलने में आता होगा वह शाक-भाजी की खोज और संचयन में शाक-भाजी के उत्पन्न करने वाले को आता है।

ऐतिहासिक वस्तुओं, अजूबा चीजों आदि का संग्रह भी बड़ा रोचक व्यसन है। मूर्तियां, पत्थर, टिकट, बर्तन, कपड़े, शंख, घोंघे आदि का संग्रह घर की शोभा ही नहीं बढ़ाते वरन् उनसे इतिहास, भूगोल और प्रकृति का ज्ञान भी बढ़ता है। इस प्रकार से संग्रहों के लिए यात्रा भी स्वयं अपेक्षित है। यात्रा भी स्वयं एक प्रकार का व्यसन बन जाती है। यदि यात्राओं में पैदल चलने का भी व्यसन हो तो उनसे स्वास्थ्य और साहस की भी वृद्धि होती है और प्रकृति का निकटतम परिचय मिलता है। साहसी यात्राओं का करना हर एक मनुष्य का काम नहीं, किन्तु जो लोग शारीरिक बल और हृदय का साहस रखते हैं वे इन यात्राओं द्वारा न केवल अपना गौरव बढ़ाते हैं वरन् देश का भी गौरव बढ़ाते हैं। वे संसार के ज्ञान की वृद्धि करते हैं।

वैज्ञानिक अनुसंधान या ऐतिहासिक अनुसंधान भी व्यसन के विषय बनाये जा सकते हैं। हम लोग परीक्षा समाप्त करने के बाद अपनी शिक्षा को समाप्त-सी समझ लेते हैं। जो लोग शिक्षा-विभाग में काम करते हैं, वे लोग तो ऐसे अनुसंधान सहज में कर सकते हैं किन्तु बहुत से अध्यापक भी अपने विद्यार्थियों को केवल परीक्षा पास कराना ही जानते हैं, अनुसंधान के कार्यों में न स्वयं रुचि लेते हैं और न अपने विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देते हैं। वे अपने व्यवसाय को लज्जित करते हैं।

व्यायाम और खेल ऐसे निरापद और उपयोगी व्यसन हैं जिनको हर एक आदमी को स्वास्थ्य के हित अपनाना चाहिये। टहलना सबसे मृदुलतम व्यायाम है। इसको बच्चे और बूढ़े भी अपना सकते हैं। टहलने को भी यथासम्भव एकाकी होने से बचाये रखना चाहिए। यदि दो चार आदमी साथ टहलने जाते हैं तो उसमें व्यायाम-सा नहीं मालूम होता है और चित्त भी अधिक प्रसन्न रहता है। प्रातः पर्यटन में हमको प्रकृति की अपूर्व रंग-बिरंगी छटाओं के देखने का अवसर मिलता है, साथ ही धूल और गन्दगी से साफ और शुद्ध वायु मिल जाती है।

कुशती, लेजम आदि व्यायाम शारीरिक गठन और स्फूर्ति के लिए उपयोगी हैं किन्तु इनके सम्बन्ध में 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का ध्यान रखना आवश्यक है। इनको भी एकान्त में न करके बगीची आदि में सामूहिक रूप से करना अधिक वांछनीय है।

टेनिस, फुटबॉल, क्रिकेट आदि का अनुशीलन समय और आयु के अनुकूल होना चाहिये। फुटबॉल तो अल्प व्यय-साध्य है किन्तु टेनिस में कुछ खर्च अधिक है। इन खेलों की विशेषता यह है कि इनमें सामाजिकता कुछ बढ़ती है। कबड्डी आदि देशी खेलों को प्रत्साहन देकर अधिक सुव्यवस्थित बनाया जा सकता है।

मनुष्य को परिवार का पालन करना भी आवश्यक है। उसी के साथ सामाजिक सम्बन्धों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इन खेलों द्वारा मनुष्य की सामाजिकता बढ़ सकती है और सहनशीलता, परिश्रमशीलता, उदारता आदि गुणों का अनुशीलन भी हो सकता है।



योग्यतानुकूल व्यवसाय चुनना

हर एक मनुष्य के लिए किसी-न-किसी व्यवसाय, रोजगार, धंधे अथवा पेशे की आवश्यकता है और अपने लिये बुद्धिमत्ता-पूर्वक व्यवसाय चुनने में ही मनुष्य-जीवन का सफल होना न होना अवलम्बित है। ऐसे बहुत ही थोड़े-हजारों में एक-मनुष्य होंगे जिन्हें जीवन-निर्वाह के लिए कुछ उद्योग नहीं करना पड़ता अर्थात् जिनके पास आवश्यकता से बहुत ही अधिक सम्पत्ति होती है। परन्तु ऐसे मनुष्यों को भी अपने लिए कुछ-न-कुछ कार्य चुनने की आवश्यकता पड़ती है। इसका कारण यह है कि ऐसे मनुष्यों को उदरपूर्ति के लिए भले ही कष्ट न उठाना पड़े, परन्तु अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये तथा उसे आलस्य से बचाने हेतु इच्छा न होने पर भी कुछ काम करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जीवन काम करने के लिए ही बनाया गया है और धनवान तथा धनहीन कोई भी मनुष्य इससे बच नहीं सकता।

यद्यपि इस बात की सत्यता विवादरहित सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य को कुछ-न-कुछ व्यवसाय या कार्य करना ही पड़ेगा तथापि बहुत से युवकों को इस बात में डर और घृणा होती है। वे अपने माता-पिता का पिंड नहीं छोड़ना चाहते और रोटी के प्रश्न को स्वयं हल करने में बेइज्जती समझते हैं। परन्तु उन्हें भी कभी न कभी, जल्दी अथवा देरी से, कुछ कार्यारम्भ करना ही पड़ता है। इसलिए प्रत्येक युवक का, जो संसार में प्रवेश करके विजय-कामना रखता हो, यह कर्तव्य है कि वह शीघ्र ही इस बात का निश्चय कर ले कि वह अपनी सारी शक्तियों को किस काम में लगावेगा। अनिश्चित अवस्था में रहकर विलम्ब करने और व्यर्थ समय सोने से कुछ लाभ न होगा।

बहुत सों मनुष्य सुख का अर्थ नहीं समझते। वे कार्य के अभाव अर्थात् आलस्य के साथ समय बिताने को सुख का साधन समझते हैं, यह एक बड़ी भारी भूल है। कहा जाता है कि उद्योगरहित और कार्यहीन मनुष्यों का मन शैतान का निवास-स्थान होता है। भारतवर्ष में एक बड़े भारी अधिकारी को यह आज्ञा मिली कि “अब तुम्हारे नौकरी के दिन पूरे हो गये। तुमने ईमानदारी से काम किया, इसके उपलक्ष में तुम्हें पेंशन मिला करेगी।” जब उसे यह आज्ञा मिली तब वह बहुत ही

खुश हुआ। खुशी इस बात की थी कि उसे अब काम नहीं करना पड़ेगा और मजे में दिन काटने का अवसर मिला करेगा। उसने खुशी के आवेश में अपने एक मित्र को यह पत्र लिख भेजा, “अब मैंने दिनभर के झंझटों से छुट्टी पाई। रात-दिन काम करने से जी ऊब गया था। अब मुझे दस गुनी तनख्वाह मिले तो भी काम नहीं करूंगा।” दो चार आठ दिन बीत जाने पर जब उसे बैठे-बैठे खराब मालूम होने लगा और जब उसने देखा कि काम किए बिना आलस्यपूर्ण जीवन बड़ा ही दुखदायी होता है, तब उसने फिर अपने उसी मित्र काशोक के साथ लिखा कि “भाई ! मैं मूर्खता से यह समझता था कि काम न करने में ही आनन्द है ! परन्तु बात बिल्कुल उलटी है। अब मुझे साफ-साफ मालूम हो रहा है कि मेरा पूर्व जीवन बहुत ही उत्तम और सुखपूर्ण था। जितना अधिक काम करना पड़ता था उतना ही अधिक सुख मिलता था।” सारांश यह है कि हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहना मनुष्य के देह-धर्म के विरुद्ध है। मनुष्य का मन पनचक्की के समान है। जब उसमें गेहूँ डालते जाओगे तब वह गेहूँ को पीसकर आटा बना देगी। परन्तु जब उसमें गेहूँ न डालोगे तब वह स्वयं आपको पीस-पीसकर क्षीण बना डालेगी। एक तत्वज्ञानी के इस कथन से हम भी पूर्णतया सहमत हैं कि “बहुत कम मनुष्य लोभ के कारण जुआरी या शराबी हुआ करते हैं। उनमें से अधिकांश ऐसे मनुष्य हुआ करते हैं जो कुछ काम न करने के कारण केवल समय बिताने के लिए ही जुआ खेलते या शराब पीते हैं।”

जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि काम करना अथवा आलस्यपूर्ण जीवन बिता देना देहधर्म के विरुद्ध है तब हमारा यही कर्तव्य है कि हम कुछ न कुछ अच्छा व्यवसाय अपना लिए पसन्द करें। यह व्यवसाय हमारे मन, इच्छा, कार्यशक्ति और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रतिकूल व्यवसाय करने में सफलता कभी हो नहीं सकती। विचार करने की बात है कि जिस मनुष्य को ईश्वर ने जन्म-सिद्ध चित्रकार बना कर भेजा है उसे यदि किसी कारण से उसका पिता विश्वविद्यालय में पढ़ा-पढ़ाकर डिग्री दिलाना चाहे तो यह कभी हो सकता है? इधर प्रोफेसर साहब उसे किताब की बड़ी-बड़ी बातें समझायेंगे और उधर वह लड़का प्रोफेसर साहब की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और हलचलों का चित्र अपने मन में खींचता जावेगा। मनुष्य-जीवन के असफल होने के दो मुख्य कारण हैं-- पहला यह कि वह कभी-कभी अपनी स्वाभाविक कार्यशक्ति के विरुद्ध व्यवसाय में लग जाता है। दूसरा कारण यह है कि मनुष्य व्यसाय-कुशल हुए बिना ही अपने कार्यों को शुरू कर देता है। परन्तु जब तक कार्यकुशलता और काम चलाऊ अनुभव न हो जाये तब तक एकाएक कोई काम शुरू न करना चाहिए। यह सच है कि अनुभव और कुशलता जल्द नहीं आती परन्तु इन्हें दृष्टि के बाहर जाने नहीं देना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि जीवन-संग्राम में मनुष्य अमुक दो कारणों से

असफल होता है। परन्तु हमारे भारतवर्ष में एक और तीसरा कारण देखा जाता है। इस देश के लिखे-पढ़े शिक्षित केवल मानसिक और मौखिक कार्य करना अधिक पसन्द करते हैं। उन लोगों में शारीरिक व्यवसायों से एक प्रकार की घृणा उत्पन्न हो गई है। ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। एक मनुष्य आठ रुपये महावार में म्युनिसिपल नाके का मुंशी बनकर कान में कलम दबा रखने में अपने जीवन को अच्छाई समझता है, परन्तु अन्य शारीरिक कार्य करके अधिक द्रव्य पैदा करने में उसे लज्जा मालूम होती है। भारतवर्ष में बाबू साहिबी की बीमारी दिनों-दिन बढ़ रही है और शोक के साथ कहना पड़ता है कि यदि किसी ने इस मर्ज की दबा शीघ्र न निकाली तो यह बीमारी असाध्य हो जायेगी। स्मरण रहे कि शारीरिक श्रम करने से और अपनी कर्मन्द्रियों को किसी उपयोगी कार्य में लगा देने से ही शिक्षित-समाज अपने देश के लिए आदर्श हो सकता है। विद्यार्थियों को उचित है कि वे इस बात पर ध्यान दें और शारीरिक श्रम से घृणा न करें।

ऊपर इस बात की आवश्यकता बतलाई जा चुकी है कि हर एक मनुष्य को अपनी स्वाभाविक वृत्ति और कार्यशक्ति के अनुकूल व्यवसाय चुनना चाहिए। अतएव जो मनुष्य संसार में सफलता प्राप्त करना चाहता है, उसका पहला कर्तव्य इस बात का ज्ञान प्राप्त करना होगा कि उसकी रुचि किन कार्यों की ओर अधिक है। बहुत से मनुष्य इस बात की कोई आवश्यकता नहीं समझते कि कोई युवक अपनी प्रवृत्तियों को जानकर उनके अनुसार काम करे। उनका यह सिद्धान्त है कि हर एक मनुष्य कोई भी कार्य कर सकता है, अपनी प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल परिश्रम करना पड़ेगा। लॉर्ड चेस्टर-फील्ड का भ्रूणी यही मत था। वे कहा करते थे कि अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा कार्य-शक्तियों को जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कोई भी युवक केवल परिश्रम से विद्वान, सुवक्ता, राजनीतिज्ञ, यशस्वी, खूबसूरत इत्यादि सभी कुछ (परन्तु कवि नहीं) बन सकता है। बल्कि वे यहां तक कहते थे कि मेहनत करने पर मनुष्य यदि अच्छा कवि न भी बन सके तो खासा तुकबन्द अवश्य बन सकता है। उसके कथन का सारांश यही है कि कोई भी मनुष्य कवि, ग्रंथकार, राजनीतिज्ञ अर्थात् कुछ भी बनाया जा सकता है। अपने इसी सिद्धान्त के अनुसार लॉर्ड चेस्टरफील्ड ने अपने लड़के स्टैनहाप को जो कि बड़ा सुस्त, कार्य शिथिल और असावधानतापूर्ण था, एक समय गुप्तचर बनाना चाहा। इन्होंने इसके लिये वर्षों तक परिश्रम किया, परन्तु फल वही हुआ जो ऐसी अवस्थाओं में सदैव हुआ करता है। लड़का उम्रभर ज्यों का त्यों रहा। उसकी योग्यता न बढ़ी। इसलिए स्वाभाविक प्रवृत्तियों का जानना परम आवश्यक है और इसके जानने में कोई भी कठिनाई नहीं है। प्रायः हर एक लड़के की बाल्यावस्था के कार्यों से यह जाना जा सकता है कि वह भविष्य में किस तरह का

मनुष्य होगा। जो लड़का कालिदास बनने को पैदा हुआ है वह छोटी उम्र में भी अच्छी कविता कर सकता है। जो भविष्य में शिवाजी बनता है वह बचपन में लड़कों की सेना बनाकर सेनापति का कार्य भी किया करता है और जो भविष्य में विख्यात अमीरअली उग बनता है वही लड़का पहले पहल “भुट्टे चुराकर” अपना पहला पाठ सीखता है। कहने का तात्पर्य यही है कि किसी की बाल्यावस्था के कार्य और प्रवृत्तियों को देखकर यह सरलतापूर्वक जाना जा सकता है कि यह लड़का आगे चलकर किस प्रकाश का मनुष्य होगा।

जब यह मालूम हो जाये कि अमुक लड़के की अच्छी प्रवृत्ति किस ओर है, तब सबसे आवश्यक कार्य यह रह जाता है कि उसको उसी कार्य में अच्छी शिक्षा मिले। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुकूल योग्य और उदार शिक्षा पाने पर मनुष्य अपने व्यवसाय में थोड़े ही परिश्रम से सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। हां, कभी-कभी यह देखा जाता है कि किसी मनुष्य के भविष्य जीवन का पूर्व प्रतिबिम्ब उसकी बाल्यावस्था में नहीं दीखता, परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं।

जिस तरह इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में एक-एक विशेष गुण रहता है उसी तरह प्रत्येक मनुष्य में भी कुछ छिपे कार्य करने की शक्ति अवश्य ही रहती है। यह शक्ति अथवा स्वाभाविक प्रवृत्ति चाहे किसी विशिष्ट अवस्था अथवा परिस्थिति में न भी मालूम हो सके, परन्तु वह ऐसी दृढ़ और उत्कृष्ट होती है कि वह आप ही आप प्रकट हो जाती है। उसे कोई छिपा नहीं सकता।

जब हम अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार कोई व्यवसाय चुन लें तब फिर हमें उसमें हजारों बाधाओं के होने पर भी लगे रहना चाहिए। बहुधा युवावस्था में कुछ कष्ट, उदासीनता अथवा अकृतकार्यता होने से युवकगण हताश होकर अपने इच्छित व्यवसाय को यह समझ कर छोड़ देते हैं कि कदाचित् वे किसी दूसरे व्यवसाय में लग जाने से अधिक सफलीभूत होंगे, परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। हमें सर्वदा यही उचित है कि हम जिस धंधे को अपने लिए एक बार चुन लें फिर उसे कभी न छोड़ें। उसी में दृढ़तापूर्वक लगे रहें। जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए अपनी प्रवृत्तियों के अनुकूल व्यवसाय चुनने की जितनी जरूर है उससे बढ़कर उसमें दृढ़तापूर्व लगे रहने की भी है। कठिनाइयों के उपस्थित होने पर यह विचार करना मूर्खता है कि हम किसी दूसरे व्यवसाय में अधिक सफल हुए होते। जब अपने व्यवसाय को छोड़कर दूसरे धंधे में लगने के लिए जी ललचाता है तब उस दूसरे धंधे के केवल गुण और लाभ ही दुष्टिगत हुआ करते हैं और अपने धंधे के केवल दोष और हानि। पर ऐसा होना सम्भव नहीं है। हम जिस गुलाब को देखेंगे उसी में कांटे मिल सकते हैं। इसलिए अपने एक बार के दृढ़ निश्चय व्यवसाय को बिना समझे

बूझे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। नहीं तो लेने के देने पड़ जायेंगे और यही हालत होगी कि “न खुदा ही मिला न विसाले सनम, न इधर के हुए न उधर के हुए।” इसलिए हमें किसी व्यवसाय के चुनने अथवा छोड़ने में चंचलता अथवा जल्दी नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी जब मनुष्य अपने व्यवसाय में हजार प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं होता तब उसे अपने व्यवसाय को बदल कर दूसरा चुनने की आवश्यकता होती है। परन्तु इससे यह भी सिद्ध होता है कि उसने अपने व्यवसाय को चुनने में बड़ी गलती की। ऐसी गलतियाँ कई कारणों से बुरीसंगति, अचानक घटना, माता-पिता की बुद्धिहीनता अथवा अधूरी शिक्षा के कारण बहुधा हुआ करती हैं, परन्तु युवावस्था में मन बहुत चंचल रहता है। किसी काम को खूब सोच-समझकर करना चाहिये। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि अनेक युवक उस कार्य को करते हैं जिसमें वे कभी सफल नहीं हो सकते और कुछ युवक भ्रमवश उस व्यवसाय को छोड़ बैठते हैं जिसमें थोड़े ही अधिक परिश्रम से वे सफलीभूत हो गये होते। ध्यान रखने की बात है कि जो व्यवसाय किसी भी दृष्टि से जितना ही अधिक अच्छा होगा, उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए उतना ही अधिक समय और परिश्रम भी लगेगा। हाँ, जिस राह से हम जा रहे हैं उस राह में यदि सिंह मिल जाये तो हमारा यह सोचना बिल्कुल स्वाभाविक होगा कि उस रास्ते के सिवा संसार में अन्य किसी रास्ते में सिंह आ ही नहीं सकता, किना परिश्रम के कुछ भी नहीं मिल सकता। इसलिए बाधाओं का सामना करते हुए अपने एक बार के चुने हुए व्यवसाय में दृढ़तापूर्वक लगे रहना अच्छा है। इसी तत्व के आधार पर हमारे पूर्वजों ने वर्णाश्रम-धर्म की रचना की है, जिससे समाज के सब व्यवसाय उचित रीति से हुआ करें और इसी तत्व के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि “स्वधर्मं निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः”।

इस लेख को समाप्त करने के पहले विद्यार्थियों को यह बतला देना आवश्यक है कि तुम्हें इच्छा अथवा आवश्यकता के कारण जिस व्यवसाय को करना पड़े उसे घृणा की दृष्टि से मत देखो। बहुत से युवक अपनी योग्यता की डींग हाँके बिना संतुष्ट नहीं होते। वे कहा करते हैं कि यदि हम उस व्यवसाय में न होते तो बहुत ही यशस्वी होते। उनका ईश्वर के सामने यही रोना रहता है कि उसने हमको अपनी अपूर्व योग्यता का प्रकाश करने का अवसर ही न दिया। अपने साथियों को सदैव अपनी योग्यता के विषय में व्याख्यान देकर ऐसे युवक कहा करते हैं कि हमें अपनी योग्यता को बरबाद करना पड़ रहा है, ग्रहदशा अच्छी नहीं है, साधन और संयोग प्रतिकूल हैं इत्यादि। परन्तु वह युवकों की बड़ी भारी भूल है। इस तरह के व्यर्थ की बकवाद के कारण दुनियाँ उन्हें व्यर्थ बातें करना (अपनी बातें करना) समझकर उनका तिरस्कार करेगी, क्योंकि दुनिया को तो आज तक यही समझ है कि जिसमें

थोड़ी बहुत आश्चर्यजनक योग्यता विद्यमान है वह मनुष्य किसी न किसी तरह से संसार को अवश्य ही दिखा देगा। इसलिए अपने व्यवसाय की तुच्छता की शिकायत करते रहने के बदले उसे उच्च और कुलीन बनाने के प्रयत्न में मनोयोग-पूर्वक लगे रहने से अधिक लाभ और ख्याति की सम्भावना है। उस व्यवसाय को तुम अपने किसी पाप का प्रायश्चित्त मत समझो, केवल कर्तव्य समझकर उसके सम्पादन में दत्तचित्त हो जाओ। फिर सफलता दूर नहीं रहेगी।

--माधवराव सप्रे

[विशेषतः हमारी अधिकांश शिक्षा निरुद्देव्य होती है। हमारे बहुत से विद्यार्थी उस यात्री की भांति होते हैं जो यह नहीं जानता है कि उसे कहां जाना है। बालक की रुचि निश्चित हो जाने पर उसकी शिक्षा का क्रम भी उसके अनुकूल निर्धारित होना आवश्यक है।

व्यवसाय के चुनाव में रूढ़िवाद से अधिक काम लेते हैं। नये मार्ग खोजन का हम बहुत कम साहस करते हैं। भेदधसान की प्रवृत्ति के वश हो उसी पेशे में जाना चाहते हैं जिसमें पहले ही भीड़ अधिक है। पेशे के चुनाव में हमको काफी छान-बीन करनी चाहिये और यथा-सम्भव हमको ऐसा पेशा चुनना चाहिए जिसको करने में देश का भी कल्याण हो॥



संघर्ष

“अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुनाजयेत्।
धर्मेण निधन श्रेयो न जयः पापकर्मणः॥”*

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल।
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल॥
मिला हमें वह चिर सत्य नूतन होकर।
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर

--सियारामशरण गुप्त

यद्यपि सभी युगों में थोड़ा बहुत संघर्ष रहा है तथापि इस युग में संघर्ष की मात्रा अधिक है। संघर्ष विश्व व्यापी हो रहा है। कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जो संघर्ष से खाली हो। धर्म का उदय मानव समाज में ऐहिक और पारलौकिक शान्ति के लिए हुआ था, किन्तु आजकल धर्म भी अशान्ति का केन्द्र बन गया है। जो लोग धर्म से उदासीन हैं; वे भी शांत नहीं रहते। वे लोग अपनी उदासीनता को ही एक धर्म बनाकर एक प्रतिद्वंद्वी मत खड़ा कर देते हैं। भारतवर्ष में तो हिन्दू-मुस्लिम झगड़े जातीय जीवन पर कुठाराघात कर रहे हैं। विरोधी धर्म वाले तर्क और युक्ति को छोड़कर लाठी-डंडों का सहारा लेते हैं, एक-दूसरे को हानि पहुंचाने ही में धर्म की इति-कर्तव्यता मानते और मिथ्याभिमान के कारण वास्तविक हित का बलिदान करने में गौरव और बुद्धिमत्ता समझते हैं। बहुत से सामाजिक झगड़े भी धर्म की भित्ति पर खड़े हुए हैं। प्राचीनता-नवीनता का विवाद भी धर्म के सहारे ही चल रहा है। एक ओर नवीनता का विवाद भी धर्म के सहारे है, तो दूसरी ओर प्राचीनता को ही देश की अवनति का कारण बतलाया जाता है। प्राचीन लोग यह भूल जाते हैं कि

* क्रोध को अक्रोध से जीतो और असाधुस को साधुता से जीतो।
धर्म से मरना अच्छा है अधर्म से जीना अच्छा नहीं

जिसे वे आज प्राचीन कहते हैं, कभी वही नवीन था और नवीन लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते कि उनकी संतान उन्हें ही प्राचीन और दकियानूसी ख्याल का बतलावेंगी।

सामाजिक क्षेत्र में जाति-पाँति और स्त्री-पुरुष सम्बन्धी समस्याएं मानव जाति को युद्धस्थल बनाये हुए हैं। वास्तव में लोग लोभ-वश परम्परागत अधिकारों की रक्षा कर रहे हैं। जिसे जो अधिकार प्राप्त हैं वह उन्हें सहज में नहीं छोड़ना चाहता।

औद्योगिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में और सब जगहों से भी बुरा हाल है। पूंजीपति लोग समझते हैं कि रुपया ही सबसे बड़ी संचालन शक्ति है; बिना रुपये के सब काम पड़े रहते हैं। उधर मजदूर लोग ये समझते हैं कि वे ही सच्चे उत्पादक हैं। उनके बिना धन अनुत्पादक रहता है।

राजनैतिक क्षेत्रों में भी अधिकारों का प्रश्न है। प्राप्त अधिकारों को कोई नहीं छोड़ना चाहता। विजित जातियाँ मनुष्य को समान अधिकारों की दुहाई देती हुई कहती हैं कि वे बंधनों में कब तक जकड़ी रहें और विजेतागण अपने को विजित लोगों का हित-रक्षक बताते हुए इन बंधनों को रक्षा के साधन और उन्नति के विधायक सिद्ध करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष भी कुछ कम अशांतिजनक नहीं। निःशास्त्रीकरण के वार्तालाप के वायु-मण्डल व्याप्त हो रहा है, किन्तु युद्ध के नित नये साधन तैयार होते जाते हैं। मुंह में राम, बगल में ईंटें, की बात चरितार्थ होती-सी दिखाई पड़ती है।

अधिक उन्नति के लिए धर्म और न्याय की उपेक्षा की जाती है, जो स्वार्थ व्यक्तियों में संघर्ष का कारण है वही जाति में खींचातानी उत्पन्न कर रहा है। यद्यपि मनुष्य-जाति ने नख-दंत आदि स्वाभाविक अस्त्रों को त्याग दिया है तथापि अब उनसे भयानक और तीव्र अस्त्र तैयार कर लिये हैं। जितना ही ज्ञान बढ़ता जाता है, उतनी ही प्रतिद्वंद्विता में वृद्धि हो रही है। व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता भी गोला-बारूद से कम घातक नहीं। महंगाई भी दिन प्रतिदिन भीषण रूप धारण करती जाती है। बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुकूल आय नहीं। असंतोष, क्रोध और क्रूरता को बढ़ा रहा है। क्रोध की अग्नि जब प्रज्वलित हो जाती है तब सहज में नहीं बुझती। वायुमण्डल संकुचित और विषाक्त बनता जा रहा है। सांस लेने से दम घुटता-सा मालूम होता है, फिर आशावाद के लिये क्या स्थान ?

आशावादी जो कुछ हो चुका उसकी ओर देखत है, जो कुछ नहीं हुआ, उसे देखकर निराश नहीं होता। इतना ही नहीं, मनुष्य की सफलता उसके उद्योग को जारी रखने में सहायक होती है। मानव जाति की उपर्युक्त समस्याएँ ऐसी नहीं, जो

सावधानी से विचार करने पर हल न हो सकें। यद्यपि मनुष्य में स्वार्थ की मात्रा अधिक है तथापि मनुभव यह बतलाता है कि सच्चा स्वार्थ निःस्वार्थता में है। संकुचित स्वार्थ स्वार्थ का ही घातक होता है। मनुष्य में जहां घृणा के भाव हैं, वहां सहानुभूति और सामाजिकता भी है। सत्शिक्षा की आवश्यकता है। अभी तक लोग दूसरों को नीचा समझने में अपनी उच्चता मानते हैं, किन्तु अब जैसे-जैसे ज्ञान का विस्तार होता जाता है, एक को दूसरे की योग्यता का परिचय मिलता जाता है। संसार के साहित्यिक एक दूसरे के अधिक निकट आते जा रहे हैं। आज के साहित्यिक यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में नहीं है तथापि अपनी रचनाओं द्वारा दूसरी जातियों में आपका मान बढ़ाकर बड़ा राजनीतिक कार्य कर रहे हैं।

मानव जाति में कृष्ण-वंशियों की भांति आपस में कट करने की प्रवृत्ति अवश्य है, किन्तु उसमें आत्मरक्षा की भावना भी बलवती है। सच्ची आत्मरक्षा दूसरों को दबाकर रखने में नहीं है। क्योंकि दबा हुआ मनुष्य कभी मित्र नहीं बन सकता। मानव-जाति इन सिद्धान्तों को समझती जा रही है। हां, इन सिद्धान्तों का प्रचार अभी यथोष्ट रूप से नहीं हुआ है, किन्तु यह निराशा की बात नहीं है। विचार क्षेत्र में सिद्धान्त के प्रकट होने में भविष्य के लिये सुभाषा है। ये सिद्धान्त केवल जातियों के सुधार के अर्थ ही विचार-क्षेत्र में नहीं आये हैं, वरन् व्यक्तियों के सुधार में भी ये काम में लाए जा रहे हैं। दंडविधान बदला लेने के लिये नहीं रखा गया है, वरन् अभियोगितयों के सुधार के लिए। दुष्कर्म करने की प्रवृत्ति को अब एक मानसिक रोग समझा जाने लगा है और उसकी चिकित्सा का साधन ढूंढे जा रहे हैं। जिस प्रकार व्यक्ति मनोविज्ञान ने व्यक्तिगत लोगों का चिकित्सा में बड़ी सहायता पहुंचाई है, उसी प्रकार जातियों के आदर्श का अध्ययन वर्गों और संगठित समूहों के दंभ, घृणा आदि रोगों को कम करने में सहायक होगा। राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं यद्यपि बहुत जटिल हैं, तथापि दृष्टिकोण के बदलने से वे सहज में सुलभ हो जायंगी। अभी तक ये समस्याएं बिल्कुल दुकानदारों के सिद्धान्तों पर चल रही हैं। व्यापार के भी सिद्धान्त बुरे नहीं, किन्तु व्यापार उच्चकोटि का भी होता है और नीचे दर्जे का भी। जिस प्रकार व्यक्तियों के व्यापार में सचाई को महत्व दिया जाता है, उसी प्रकार राजनीति में भी सचाई को स्थान पाने की आवश्यकता है। सत्य की सदा जय होती है, किन्तु कभी-कभी जरा देर लग जाती है। अभी हमको व्यापार-नीति से ऊंचाउठकर न्याय और धर्मसम्बन्धिनी उदार नीति की शिक्षा ग्रहण करनी है।

धर्म-नीति में दो पक्ष नहीं रहते। एक ही पक्ष को दूसरे पक्ष का वास्तविक हित देखने की उत्तरदायित्व लेना पड़ता है। दूसरे पक्ष के वास्तविक हित देखने में अपना स्वार्थ त्यागना पड़ता है इसके लिये शिक्षा की आवश्यकता है। वह शिक्षा हमें

स्वयं देनी चाहिये। स्वयं चरित्रवान् बनकर दूसरों को भी शिक्षा दे सकते हैं। साम्य स्थापित करने के लिये परस्पर आदान-प्रदान अपेक्षित है। पहले स्वयं दान करना चाहिए, फिर दूसरों से प्रत्युपकार की आश रखनी चाहिए। निष्काम कर्म किया जाये तो सबसे अच्छा हो। सज्जनता किसी निष्फल नहीं जाती है।

अन्य समस्याएं भी परस्पर आदान-प्रदान से हल हो सकती है। यद्यपि धर्म में अन्ध-विश्वास के लिये स्थान नहीं तथापि धार्मिक भाव के लिये अब भी गुंजाइश है। हम आदर का व्यवहार चाहते हैं, उदारता चाहते हैं, हम अपने जीवन में सरसता चाहते हैं, हम अपने में प्रेम और दया की स्निग्धता और आर्द्रता देखने को उत्सुक है। यही धार्मिक भाव है। यदि हम अपने ईश्वर को व्यापक रूप में देखना चाते हैं तो ईश्वर की सन्तान से विरोध नहीं कर सकते हैं। यदि दूसरे अज्ञानांधकार में हैं तो हमें चाहिए कि उन्हें ज्ञान का प्रकाश दिखलावें न कि अपने अज्ञान से उनका अज्ञान द्विगुणित कर दें। प्राचीन-नवीन का भी झगड़ा उदारता की अपेक्षा रखता है।

प्राचीनों को यह ख्याल करना चाहिए कि संसार परिवर्तनशील है। समय की गति किसी से रोके नहीं रुकती, वे लोग उस परिवर्तन को उच्छृंखलता में परिणत होने से रोक सकते हैं। नवीनों को भी इस बात को मनना पड़ेगा कि हमें नवीन इमारत पुरानी नींव पर ही बनाना है। हमें उन्नति अवश्य करनी है, परन्तु एक क्रम से। केवल परिवर्तन से कोई अर्थ नहीं सधता, हमें उन्नति चाहिए। उन्नति में क्रम और विकास रहता है। क्रम में पूर्वोत्तर सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होगा। हमें चाहिये कि अपना जातीय व्यक्तित्व रखते हुए उन्नति करें।

जाति-पाति की समस्या में हमें पहले समझ लेना चाहिये कि कोई जन्म-मात्र का अधिकार स्वीकार करने को तैयार न होगा। यदि हम दूसरों से आदर चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं कि दूसरे हमें पूजें, तो हमें अपने गुणों से, अपने प्रेम से और साहनुभूति से दूसरों के हृदय में स्थान प्राप्त करना चाहिए। पतितों को भी चाहिये कि हम जिनकी समता चाहते हैं उनकी समता के योग्य बने। दोनों ही ओर योग्यता की आवश्यकता है बिना योग्यता के अधिकार नहीं मिलता। हां, मनुष्य-मात्र अधिकार सको प्राप्त हैं। व्यक्ति चाहे योग्य हो, चाहे अयोग्य, उसे अपनी नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार है।

यह आशावाद अकर्मण्यता नहीं है। असन्तोष क्रिया का प्रेरक अवश्य होता है, किन्तु उसके साथ आशा और विश्वास की आवश्यकता है। यदि हमें मनुष्य जाति की उच्च सम्भावनाओं में विश्वास नहीं, तो सारी शिक्षा निष्फल हो जाती है। उद्योग भी हलका पड़ जाता है। जो श्रद्धा और विश्वास धर्म में आवश्यक है, वे कार्य क्षेत्र में भी अपेक्षित हैं। मनुष्य जाति की उच्च भावनाओं में विश्वास रखते हुए हम अपने

कार्य को उत्साहपूर्वक कर सकते हैं। संसार संघर्षमय अवश्य है, किन्तु हम कम से कम अपने अंश में संघर्ष को कम कर सकते हैं। हमारी सद्भावनाएं निष्फल नहीं जायेंगी। लगन के आगे कोई प्रतिबन्ध नहीं ठहरता। हम समाज के जीवित केन्द्र हैं, उस समाज की गति में अन्तर ला सकते हैं। हमारे विचार दूसरों को प्रभावित करते हैं। यदि बुरी बातें संक्रामक हैं तो अच्छी बातें भी संक्रामक हो जगद्वयापिनी बन सकती हैं। बुरी बातें अछूत रोगों की भांति फेल जाती हैं। अच्छी बातों के प्रचार में समय अवश्य लगता है किन्तु प्रयत्न करने पर जब अच्छी बातें जाति के मन में स्थान पा जाती हैं तब वे चिरस्थायी होती हैं और जाति उन्नति करती है।



देश-प्रेम और देश-सेवा

“जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी”

-----*-----

जननी, जनक, भ्रात, भगिनी रहतीं जहां
पुण्य भूमि उसके समान जग में कहां ?
अमृततुल्य निज घर का दल-फल नीर है,
महलों से बढ़कर निज शांति कुटीर-है।

भूलक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहां ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल कहां ?
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन है? भारतवर्ष

--मैथिलीशरण गुप्त

स्वदेशानुराग मनुष्य में स्वाभाविक है। प्रत्येक आदमी को अपने निवास-स्थान से प्रेम होता है। घोड़ा अपना थान पहचानता है। सर्प को भी अपने बिल से मोह होता है। चिड़ियां दिनभर गगन-मण्डल का चक्कर लगाकर शाम को अपने नीड़ को ही लौटती हैं। हम लोग अपने देश के चहचहाते पशु-पक्षियों के समान ही हैं :-

देश का हमारे ऊपर भारी ऋण है। हम उसकी जलवायु से पले हैं। उसकी धूल से लोकटकर ही हम इतने बड़े हुए हैं। उससे उत्पन्न हुए अन्न से हमारा भरण-पोषण है। जिस धरती माता ने हमको जन्म लेते ही अपने अंक में लिया था, जिन सड़कों पर हम चलते-फिरते और दौड़ते हैं, जिस भूमि पर हम अपने विलास भवनों का निर्माण करते हैं, वे सब हमारे इसी भूखंड के ही, जिसको हम अपना देश कहते हैं, अंग हैं। देश की संस्थाओं से ही हमने विद्यालाभ किया और देश ही हमारी

आजीविका के साधन उपस्थित करता है। देश की सरकार द्वारा जो संरक्षण मिलता है उसी के बल-भररासे पर हम अपना व्यापार और व्यवसाय चलाते हैं। हम देश के उपकार से कदापि उन्नत नहीं हो सकते हैं।

देश-प्रेम स्वाभाविक भी है और हमारे प्रेम पर उसका अधिकार भी है। जिस प्रकार हम अपने माता-पिता के उपकारों का बदला नहीं चुका सकते उसी प्रकार देश के उपकारों से हम उन्नत नहीं हो सकते हैं। देश प्रेम का अर्थ है देश की संस्थाओं से प्रेम, देश की रीति-रिवाज और उसमें उत्पन्न वस्तुओं भाषा, भेष, भूमि आदि से प्रेम और उनके प्रति अपनत्व और गर्व की भावना का अनुभव करना। सच्चे देश-प्रेमी के लिए अपने देश की रज का कण-कण पवित्र होता है। उसकी भाषा का माधुर्य उसके लिए पीयूष के समान होता है और वहां की रहन-सहन वेष-भूषा, फल-फूल, लतागुल्म और वृक्ष सभी उसके लिए आकर्षण रखते हैं।

जहां देश के प्रति हमारा प्रेम है वहां उसके प्रति हमारा कर्तव्य भी है। प्रेम को सार्थकता भावना मात्र में ही नहीं है वरन् उसके अनुकूल क्रिया भी होनी चाहियें देश-प्रेम देश सेवा के बिना एक विडम्बना मात्र है। वह प्रेम क्या जिसमें स्वार्थों को बलिदान न हो?

अपनी भाषा, अपनी रहन-सहन, रीति-रिवाज और संस्थाओं से प्रेम और उनके पोषण और रक्षा के अतिरिक्त उनकी आर्थिक, मानसिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक उन्नति में योग देना प्रत्येक देश-प्रेमी का कर्तव्य है।

व्यक्ति देश व समाज की अन्तिम अविभाज्य इकाई है। देश का उत्थान और पतन व्यक्तियों के उत्थान और पतन पर निर्भर है। देशान्ति का सबसे पहला रूप है आत्मोन्नति। यदि हम उन्नत बनते हैं तो हमारे देश का मस्तक उन्नत होता है और यदि हमारा पतन होता है तो देश का सर भी लज्जा से झुक जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की अच्छाई या बुराई का उत्तरदायित्व उसके ही प्रति नहीं है वरन् देश के प्रति भी है।

देश भक्त का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि वह कोई काम ऐसा न करे जिससे बुरा उदाहरण उपस्थित हो और उसके लिए देश या जाति की बदनामी हो। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने को हृष्ट-पुष्ट और बलवान बनाकर देश की सेवा के योग्य प्रमाणित करें। अपने स्वास्थ्य और अपनी पुष्टि को देश के एक सेवक की पुष्टि समझें। किन्तु वह पुष्टि अपने लिए सुखमय जीवन व्यतीत करने में सीमित न रहे। बल्कि वह पुष्टि और बल देश की सेवा के लिए हो।

आर्थिक उन्नति में हम केवल इतना ही योग दे सकते हैं कि हम जो व्यवसाय चुनें वह ऐसा हो जिससे कि देश के व्यवसाय में उन्नति हो। देश में कल-कारखाने खुलवाना, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देना, देश में औद्योगिक अनुसंधान के लिए सुविधाएं

उपस्थित करना, प्रदर्शनियां करना ये सब आर्थिक उन्नति में सुधार सम्बन्धी कार्यक्रम के अंग हैं। यदि हम न भी कर सकें तो स्वदेशी का व्रत धारण कर देश की आर्थिक उन्नति में बहुत कुछ योग दे सकते हैं। देश की बनी हुई वस्तुओं पर ही व्यापार करने से देश के उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन मिलता है। देश की बनी हुई वस्तु का मूल्य कुछ अधिक भी हो तो भी वह विदेश की वस्तु की अपेक्ष अधिक ग्राह्य होना चाहिए।

देश की नैतिक उन्नति के लिए हम अपने व्यवहार में ईमानदारी और सच्चाई का आदर्श उपस्थित करें। हमको अपने वायदे के पक्के और अपनी जबान के सच्चे बनना चाहिए जिससे कि कोई हमारे ऊपर अंगुली न उठा सकें जिस माल का भाव करें वही माल दें। ऐसी बातों से देश की साख बढ़ती है। हम अपने वैयक्तिक लाभ की ओर ध्यान न देकर देश की साख का विचार करें। हमको चाहिए कि अपने को लाभ और लालच से बचायें। विशेषकर उन कामों में जहां कि देश के हित का सीधा सम्बन्ध हो। बहुत से लोग अपने वैयक्तिक लाभ के लिए देश के अहित की परवाह नहीं करते हैं। इस सम्बन्ध में 'मॉर्डन रिव्यू' के सम्पादक श्री रामानन्द चटर्जी ने बड़ा ऊंचा आदर्श उपस्थित किया था। वे पहले महायुद्ध के बाद लीग ऑफ नेशंस के अधिवेशन में गये थे, वहां उनको आठ सहस्र रुपये मार्ग व्यय के रूप में भेंट किये गये किन्तु उन्होंने केवल इसलिए नहीं स्वीकार किये कि उनके स्वीकार कर लेने पर वे उसके सम्बन्ध में स्वतंत्र और निर्भीक आलोचना न कर सकेंगे। ऐसी बातों से देश का नैतिक मान बढ़ता है।

देश की सामाजिक विषमताओं को दूर करना अर्थात् अछूतों, मजदूरों आदि को स्थिति को सुधारना, दहेज, वृद्ध-विवाह आदि समाज की कुप्रथाओं का सुधार, निरक्षरता का निवारण, स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी का प्रसार, मकानों और मोहल्लों की गंदगी और संकीर्णता को दूर करना, नये और स्वस्थ निवास स्थानों का निर्माण, रोगी सेवा, औषध आदि का प्रबन्ध करना या कराना, लोगों के मनोरंजन और विश्राम के लिए पार्क व्यायामशाला, क्लब आदि खुलवाना ये समाज-सेवा के ही अंग हैं। समाज की सेवा देश की सेवा है। देश-भक्ति का अर्थ केवल नारे लगाना या व्याख्यान देना ही नहीं है, वरन् रचनात्मक कार्य करना है।

जनता के मानसिक धरातल को ऊंचा करने के लिए निरक्षरता निवारण के साधनों में योग देना तथा वाचनालय और पुस्तकालय, पाठशालाओं और कॉलेजों को खुलवाने में सहायक बनना देश-सेवा के ही रूप हैं। ज्ञान-प्रसार के लिए वैज्ञानिक, राजनीतिक और आर्थिक व्याख्यान कराना तथा देश की वैज्ञानिक ऐतिहासिक और साहित्यिक खोज को प्रोत्साहन देना ये सब देश-सेवा के ही क्षेत्र हैं।

राजनीतिक उन्नति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है जनता में राजनीतिक

ज्ञान का प्रसार करना और उसमें राष्ट्रीयता की चेतना उत्पन्न करना। इस चेतना के उत्पन्न करने में सबसे अधिक बाधक है साम्प्रदायिकता। साम्प्रदायिकता एक प्रकार का धार्मिक अहंभाव है। जहां धर्म अहंभाव दूर करना सिखाता है वहां साम्प्रदायिकता उसको पुष्ट करती है। धर्म हृदय का विषय हैं हम किसी का जबरदस्ती हृदय-परिवर्तन नहीं कर सकते हैं।

परमात्मा एक ही है। उसके विद्वानों ने अनेक रूप बना लिये हैं। 'एकं सत् विप्रः बहुधा वदन्ति' परमात्मा अनन्त है, हम सब अन्धे के हाथों की भाँति उसके एक ही अंग को पूर्ण समझकर लड़ने लगते हैं। अपने धर्म में दृढ़ रहकर दूसरे धर्म का आदर करना प्रत्येक देश के हित चिन्तक का कार्य है। पूज्य महामना मालवीय ने अपने धर्मोपदेश में लिखा है --

अर्थात् अपने विश्वास में दृढ़ता और पराई निन्दा से दूर रहना, मतभेदों को छोड़ देना। (अर्थात् सामान्य बातों को ग्रहण करना और प्राणिमात्र से मित्रता रखनी चाहिये) उसी बात को मालवीय जी ने हिन्दी में कहा है-- 'दृढ़ता अपने धर्म में सारे जग सों प्रेम' कोई धर्म ईश्वर की सृष्टि का हनन नहीं सिखलाता। ईश्वर से प्रेम करना और ईश्वर के बन्दों से द्वेष करना धर्म नहीं। जहां रीति-रिवाज, उपासना के तरीकों का सवाल है वहां हम एक हैं। उर्दू के कवि इकबाल ने क्या ही अच्छा कहा है --

साम्प्रदायिकता की भाँति प्रांतीयता और जाति-भेद राष्ट्रीयता में बाधक हैं। हम यह नहीं कहते कि प्रांत के लोग अपने प्रान्त से प्रेम न करें अथवा जाति-भेद मिट जाये, जाति-भेद रहे तो विवाह शादियों के लिए रहें। किन्तु उसे राष्ट्र की एकता और उन्नति में बाधक न होना चाहिए। मत देते समय योग्यतम व्यक्ति का ध्यान रखना चाहिए न कि यह कि अमुक व्यक्ति क्षत्रिय है या वैश्य अथवा कायस्थ, ब्राह्मण या शूद्र है। अलग-अलग निर्वाचना भी भेदभाव की खाई को बढ़ाते हैं किन्तु हमको इतना उदार होना चाहिए कि सबको देश-सेवा का अवसर मिल जाये। हमारी अनुदारता ही पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों के लिए उत्तरदायी है।

राष्ट्रीयता की दूसरी मांग हे एक राष्ट्र भाषा ! अंग्रेजी में साहित्य और विज्ञान अच्छा हे जिन्हें उसे प्रान्तों के पारस्परिक विचार विनियय का या शिक्षा का माध्यम बनाना दासता की मनोवृत्ति और अपने दिवालियेपन का परिचय देना है। राष्ट्र-भाषा

ऐसी है जिससे साम्प्रदायिक भेद न्यूनातिन्यून होकर हमारे देश की संस्कृति की रक्षा हो। वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सब लोगों के लिए सुलभ हो। हम अपना साहित्य प्रान्तीय भाषाओं में रचें किन्तु राजनीतिक कार्य एक ही राष्ट्र भाषा में हों, लिपि चाहे दो रहें।

राष्ट्रीयता की तीसरी मांग है देश में सुशासन की स्थापना। उसमें सबको उन्नति के समान अवसर रहें और न्यायोचित कार्य करने में किसी को बाधा न पड़े। इसके लिए आत्म-संयम और सद्भावना के प्रचार की आवश्यकता है। शासन व्यवस्था में ईमानदारी का आना बहुत कुछ अपने हाथ में है। हम अपनी सुविधा के लिए अफसरों व हाकिमों से कोई बेईमानी की बात न चाहें और न उसके लिए उन्हें कोई अनुचित प्रलोभन दें।

जिन लोगों को सरकारी नौकर होकर देश की सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता है वे अपने को वास्तव में जनता के सेवक (Public Servants) समझें और ईमानदारी और सच्चरित्रता का आदर्श उपस्थित करें। जो लोग सरकारी नौकरी को या संस्थाओं की नौकरी को ईमानदारी से करते हैं वे सच्चे देशभक्त हैं, वे चाहे गान्धी टोपी न लगायें। लगायें तो वे अपने राष्ट्र-प्रेम का परिचय देंगे किन्तु राष्ट्र-प्रेम गान्धी टोपी या जवाहर-बास्केट में नहीं है। ये तो बाहरी चिन्हे हैं। इनका आदर करना चाहिए और अपना भी चाहिए किन्तु सच्ची राष्ट्रीयता राष्ट्र के गौरव बढ़ाने वाले कामों में है। जो कोई नया वैज्ञानिक अनुसंधान करता है अथवा उच्चे साहित्यिक पुस्तकें लिखता है वह भी राष्ट्र का गौरव बढ़ाकर देश की सेवा करता है।

राजनीतिक उन्नति की अन्तिम मांग है विदेशी शासन को हटाकर उत्तरदायित्वपूर्ण प्रजातंत्र राज्य की स्थापना। इस दिशा में भी पर्याप्त उन्नति हो चुकी है, साम्प्रदायिक भेद-भाव को दूर करके उसके सफल बनाने में सहायक होना प्रत्येक देशवासी का काम है। हम लोगों को ऐसा सुझाव दें कि जिससे सब सम्प्रदाय अपना व्यक्तित्व खोये बिना और अपनी धार्मिक सुविधाओं की रक्षा करते हुए उसमें योग दे सकें। देशी राज्य भी अपनी राज सत्ताओं की स्थिति रखकर उत्तरदायी शासन की स्थापना कर संघ में शामिल होकर राष्ट्र की शक्ति और सम्पन्नता बढ़ा रहे हैं।

स्वराज्य स्थापि हो जाने पर भी अपने संयम और आत्मबल द्वारा अपनी योग्यता प्रमाणित करना हमारा कर्तव्य रहेगा। वह स्वतन्त्रता किस काम की जिसमें शान्ति और सम्पन्नता न हो। देश को सम्पन्न, समृद्धिशाली, शान्त और बलवान बनाना प्रत्येक राष्ट्र-सेवक को पुनीत कर्तव्य है। अन्त में हम रविबाबू की देश सम्बन्धी प्रार्थना का श्री कविरत्न सत्यनारायण द्वारा किया हुआ हिन्दी का अनुवाद देकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

